अंधा युग : समीक्षा

[डॉ० धर्मवीर भारती कृत 'अन्धा युग' की सर्वांगणपूर्ण समीक्षा]

लेखक

प्रो० लक्ष्मणदत्त गौतम एम० ए०

प्रकाशक



अशोक प्रकाशन
नई सड़क, दिल्ली-६

प्रकाशक
अशोक प्रकाशन
नई सड़क, दिल्ली

प्रथम संस्करण : १९६८
मूल्य : ३·५०

मुद्रक
अशोक प्रिंटिंग प्रेस,
दिल्ली-६

प्रकाशकीय

'अन्धा युग' डॉ० धर्मवीर भारती का बहुचर्चित गीतिनाट्य है जिसमें उन्होंने युद्ध की विभीषिका और युद्धोत्तरकालीन विकृत संस्कृति का यथार्थ चित्र प्रस्तुत किया है। नाट्य-कला के अधुनातन प्रयोगों की दृष्टि से भी यह रचना उत्कृष्ट बन पड़ी है। आकाशवाणी से इसके सफल रेडियो-रूपान्तर के प्रसारण से इसकी रंगमंचीय सफलता भी निर्विवाद है। अपनी प्रतीकात्मकता और अभिनव शिल्प-विधान के कारण 'अन्धा युग' निश्चय ही हिन्दी गीति-नाट्यों की परम्परा में अक्षुण्ण महत्त्व का अधिकारी रहेगा।

प्रस्तुत पुस्तक की रचना डॉ० भारती के इस गीतिनाट्य की एक संक्षिप्त परन्तु सारगर्भित समीक्षा प्रस्तुत करने की दृष्टि से लिखी गई है। विद्वान् लेखक ने यहाँ 'अन्धा युग' से सम्बन्धित उन सभी प्रश्नों और समस्याओं पर विचार किया है जो विश्वविद्यालयों की उच्चस्तरीय कक्षाओं के विद्यार्थियों के सामने आ सकती हैं। पुस्तक के अन्त में इस गीतिनाट्य के कुछ महत्त्वपूर्ण स्थलों की विशद आलोचनात्मक व्याख्याएँ भी दे दी गई हैं। हमें विश्वास है कि प्रस्तुत पुस्तक विद्यार्थियों के लिए सर्वथा उपयोगी सिद्ध होगी।

अन्त में हम इस कृति के लेखक श्री लक्ष्मणदत्त गौतम को ऐसी सर्वांगपूर्ण और उपादेय पुस्तक प्रस्तुत करने के लिए धन्यवाद देते हैं।

विषय-सूची

आलोचना भाग

: १ :

डॉ० धर्मवीर भारती : एक परिचय

धर्मवीर भारती प्रगतिशील लेखक हैं, प्रगतिशील से मेरा तात्पर्य ऐसे लेखक से कदापि नहीं है जो रूढ़ शब्दावली में प्रगतिवादी है या प्रतिवादी अथवा साम्यवादी। प्रगतिशील लेखक मैं उसे कहता हूँ जो अच्छे-से-अच्छे विचार, दर्शन अथवा सिद्धान्त पर आँख मीच कर विश्वास नहीं करता वरन् विवेक के छाज में उसे अच्छी तरह झाड़-पछोड़ कर सम्वेद की धरती पर प्रस्तुत करता है; परम्परावाद को नकारता है किन्तु शुद्ध परम्परा को शीर्षस्थ रखता है; रूढ़ियों से मुक्त है—मरे हुए सर्प की तरह ऐसी रूढ़ियों को अपने गले नहीं डालता जो आद्यान्त दुःख हेतुक हैं; आस्था की तस्वीर पर ऐसा मुग्ध नहीं है कि रात-दिन उसे छाती से लगाए भजता रहे, न ही अनास्थावादी है जिसके मुख से हर वस्तु, परम्परा, विचार अथवा सिद्धान्त को देखकर ना ही निकले बल्कि आस्था का वह रूप प्रगतिशील लेखक को ग्राह्य है जो ऐतिहासिक क्रम में परिवर्तनशील है, वर्तमान जीवन के लिए टिकाऊ है एवं अन्ध भक्ति की अपेक्षा अन्तःकरण के निष्कर्ष पर अवलम्बित है; कलावादी नहीं जो आत्मसुख को ही सर्वोपरि मानता है वरन् कला को सोद्देश्य मानकर अपने मंगल के साथ अन्य के मंगल का भी आग्रह करता है; जातीय अथवा राष्ट्रीय हितों की अपेक्षा मानवीय हितों को ही दृष्टि देता है तथा समता की आवाज को बुलन्द करता है। जो उपरोक्त तथ्यों को कथनी में स्वीकारे लेकिन करनी में नकारे उसे तो भूलकर भी प्रगतिशील लेखक नहीं मानना चाहिए।

धर्मवीर भारती सिद्धान्त और व्यवहार दोनों ही दृष्टियों से प्रगतिशील लेखक हैं, वह जिस किसी भी मतवाद को ग्रहण करता है उसमें विवेक (अन्तःकरण) पहले होता है और सम्वेद उसे अनुगमन करता चलता है। भले ही उसकी आस्था दूसरों के लिए क़दाचित ग्राह्य न ठहरे किन्तु वह उसे झटपट छोड़ देने वालों में से नहीं है क्योंकि वह विवेक-पालित है और उसमें एक का

नहीं वरन् अनेक का हित समाहित है। वह अन्धों के माध्यम से ज्योति की कथा कहने वालों में से है।

डा० भारती से एक पत्र भेजकर मैंने उनके संक्षिप्त परिचय एवं रचनाओं का आग्रह किया था। यह उनका बड़प्पन है कि बिना किसी आलस्य अथवा उपेक्षा के लौटती डाक से उनका परिचय आ गया। डा० भारती द्वारा स्वतः लिखा गया परिचय अविकल रूप से इस प्रकार है—

संक्षिप्त परिचय,

नाम : (डा०) धर्मवीर भारती,

जन्म : २५ दिसम्बर, १९२६

इलाहाबाद विश्वविद्यालय से बी० ए० तथा हिन्दी साहित्य में प्रथम श्रेणी में एम० ए० की उपाधियाँ प्राप्त की, इलाहाबाद विश्वविद्यालय का सबसे अधिक अध्ययन करने वाला छात्र होने के लिए चिन्तामणि घोष स्वर्णपदक पाया : डा० धीरेन्द्र वर्मा की देख-रेख में पी० एच० डी० के लिए शोध कार्य किया।

इलाहाबाद विश्वविद्यालय में १९५९ तक लेक्चरर रहे, उसके पश्चात् बम्बई से प्रकाशित होने वाले हिन्दी के सर्वाधिक लोकप्रिय सांस्कृतिक साप्ताहिक धर्मयुग के मुख्य सम्पादक के रूप में टाइम्स आफ इण्डिया प्रकाशनों से संबद्ध हुए।

प्रकाशन :

उपन्यास	गुनाहों का देवता
	सूरज का सातवाँ घोड़ा
कविता संग्रह	सात गीत वर्ष
	ठंडा लोहा
	कनु प्रिया
कहानी संग्रह	मुर्दों का गाँव
	चाँद और टूटे हुए लोग
	आस्कर वाइल्ड की कहानियाँ
एकांकी संग्रह :	नदी प्यासी थी
काव्यनाटिका :	अन्धा युग

साहित्य समीक्षाएँ :	सिद्ध साहित्य प्रगतिवाद : एक समीक्षा मानव मूल्य और साहित्य
ललित लेख :	ठेले पर हिमालय
विदेशी कविताओं का संग्रह	देशांतर (अनूदित)

डॉ० भारती का एक अन्य काव्य नाटक 'सृष्टि का आखिरी आदमी' हाल ही में प्रकाशित हुआ है। 'अन्धा युग' की भाँति यह भी एक प्रतीकात्मक नाटक है। शासक, सत्ता, वैज्ञानिक और मुर्दा, ये सबके सब पात्र इस नाटक में प्रतीकात्मक हैं और मानव, सृष्टि और सृजन की विभिन्न प्रकृतियों को व्यक्त करते हैं। इलाहाबाद में रंगशिल्पी ने इसे अभिनीत भी किया है। 'नाटक के प्रस्तुतिकरण में निर्देशक अवधेश चन्द्र ने काफी सतर्कता से नाटक के कथन को चित्रित करने का प्रयास किया है। वस्तुतः नाट्य-परिचालना के अनुकूल सैट का समायोजन और उसके प्रतीकात्मक अंगों को विभिन्न मंचीय धरातलों पर स्थापित करने का प्रयास इस नाटक में करके निर्देशक ने उसकी जटिलता को ज्ञेय बनाने की चेष्टा की है।'

: २ :

कथानक

प्रथम अंक

महाभारत का युद्ध चल रहा था। महायुद्ध के अन्तिम दिवस की सन्ध्या थी। पराजय के कारण कौरव नगरी के महलों में चारों तरफ उदासी छाई हुई थी और वहाँ के सूने गलियारों में केवल दो प्रहरी परस्पर बात कर रहे थे कि हमने अपना सारा जीवन उन सूने गलियारों में घूम-घूम कर बिता दिया और बिना युद्ध के ही हम थक गये हैं। हमारे सब हथियार निरर्थक हमारे अंगों पर बोझ बने पड़े रहे और हमें उन महलों की रक्षा करने का दायित्व सौंप दिया गया जहाँ अब कुछ भी रक्षणीय नहीं है क्योंकि बूढ़े और अन्धे धृतराष्ट्र ने, उनकी सन्तानों ने महायुद्ध घोषित किये जिसके परिणामस्वरूप सत्रह दिन में सब कुछ खतम हो गया और हम इस सूने गलियारे में निरर्थक पहरा देते रहे।

इसी बीच आकाश में अचानक अन्धेरा होने लगा। प्रहरियों ने समझा कि आकाश में बादल आ गये हैं लेकिन वस्तुतः वे लाखों और करोड़ों गिद्ध थे जो अपनी पाँख खोले कुरुक्षेत्र की दिशा में चल पड़े थे। इस अपशकुन की प्रहरी परस्पर चर्चा ही कर रहे थे कि इतने में वहाँ विदुर आ गये और इस अपशकुन के सम्बन्ध में विदुर और प्रहरी की परस्पर बात हुई। विदुर बोले क्या धृतराष्ट्र ने यह भयानक दृश्य देखा है ? प्रहरी बोला भला वे अन्धे जो अब तक कुछ भी नहीं देख सकते अब भला कैसे देखेंगे ? विदुर इस भयानक अपशकुन का विचार करते हुए धृतराष्ट्र और गान्धारी से मिलने महलों के भीतर गये। वे यह जानना चाहते थे कि संजय आज के युद्ध का क्या समाचार लाये ?

विदुर जब महलों में पहुँचे तो वहाँ मरघट की सी खामोशी थी। सिंहासन पर धृतराष्ट्र और गान्धारी सिर झुकाये विह्वल भाव से संजय के संवाद की प्रतीक्षा कर रहे थे। विदुर के आने पर धृतराष्ट्र बोले कि हे विदुर ! जीवन में पहली बार आज मेरे चित्त में आशंका व्यापी है। विदुर बोले—यह आशंका

जो आज आपके चित्त में व्यापी है वर्षों पहले भीष्म, गुरु द्रोण और कृष्ण के मुख से भी निकली थी। कृष्ण ने कहा था—

मर्यादा मत तोड़ो
तोड़ी हुई मर्यादा
कुचले हुए अजगर सी
गुंजीलका में कौरव वंश को लपेट कर
सूखी लकड़ी सा तोड़ डालेगी।

उदासमना धृतराष्ट्र ने विदुर को पहली बार अपना स्पष्टीकरण दिया कि मैं जन्मान्ध था; बाहरी यथार्थ और सामाजिक मर्यादा को मैंने जाना ही नहीं। मेरा संसार तो केवल मेरा व्यक्तिगत स्वार्थ था और यह कौरव सब मेरी मांस-लता से पैदा हुए थे। मेरा स्नेह, घृणा, नीति और धर्म बिल्कुल मेरा अपना था उसमें नैतिकता का कोई बाह्य मापदण्ड था ही नहीं। आज मुझे पहली बार भान हुआ कि व्यक्तिगत सीमाओं के बाहर भी एक सत्य होता है। विदुर बोले कि इस पीड़ा ने अथवा पराजय ने आपको जो यह ज्ञान दिया है वह आपको दृढ़ता प्रदान करेगा लेकिन धृतराष्ट्र तो इस ज्ञान को पाकर भी भयभीत थे। विदुर बोले—यदि भय है तो अभी आपका ज्ञान अधूरा है। अत: ऐसे समय में अपने अधूरे ज्ञान को यदि आप कृष्णार्पण कर दें तो भय से आपकी मुक्ति हो सकती है।

गान्धारी कृष्ण के नाम से जली बैठी थी वह भली तरह जानती थी कि इस महायुद्ध का सूत्रधार वही है। अत: वह बोली—क्या उस कृष्ण को हम अपना ज्ञान अर्पित कर दें जिसने स्वयं भीष्मपितामह के बाणों से आहत होकर अपना ज्ञान विवेक अथवा मर्यादा खो दी थी। उस कृष्ण को कोरा शब्दजाल आता है। निर्णय के क्षण में हमारी तरह उसका भी विवेक और मर्यादा सब व्यर्थ सिद्ध हुए। वस्तुत: हमारे भीतर स्वार्थ की एक अन्धी गुफा है और हम उसी में भटकते रहते हैं। नैतिकता, मर्यादा, अनासक्ति अथवा कृष्णार्पण ये सब झूठे आडम्बर हैं। वह कृष्ण जिसे तुम प्रभु कहते हो, वंचक है। उसने जब चाहा मर्यादा को अपने हित में बदल लिया। विदुर बोले—माता! कृष्ण के लिये ऐसे शब्द का प्रयोग मत करो। अपने कानों में माता शब्द की ध्वनि सुनते ही गांधारी मानो पागल हो गई और कहने लगी—मुझे माँ मत कहो। जिसे तुम प्रभु कहते हो

उसने भी मुझे माँ कहा था लेकिन उसी के कारण सत्रह दिन के अन्दर मेरे सब पुत्र एक एक करके मारे गये। अब तो यह शब्द ऐसा लगता है जैसे जलती हुई लोहे की सलाखें किसी ने मेरी पसलियों में धंसा दी।

इसी बीच एक वृद्ध याचक का प्रवेश होता है। वस्तुतः वह भविष्य है जिसने कुछ दिन पूर्व धृतराष्ट्र और गान्धारी को बताया था कि कौरवों और पाँड़वों का द्वन्द्व अनिवार्य है और अन्ततः उसमें कौरव दल की विजय होगी लेकिन भविष्य के नक्षत्र की गति से भी ज्यादा शक्तिशाली कृष्ण के बीच में पड़ने से सारी भविष्यवाणी निरर्थक हो गई और निराश होकर याचक ने दोनों को यही सन्देश दिया—

> …उस दिन यह सिद्ध हुआ
> जब कोई भी मनुष्य
> अनासक्त हो कर चुनौती देता है इतिहास को,
> उस दिन नक्षत्रों की दिशा बदल जाती है।

याचक भिक्षा में कुछ मुद्राएँ लेकर चला जाता है लेकिन माता गान्धारी ममता में इतनी अन्धी हैं कि उसे अब भी याचक की बात पर विश्वास नहीं होता और वह बार-बार कहती है—

> होगी,
> अवश्य होगी जय।
> मेरी यह आशा
> यदि अन्धी है तो हो
> पर जीतेगा,
> दुर्योधन जीतेगा

दिन डूब गया लेकिन संजय नहीं आए। सभी उस संशय में डूब रहे थे कि पता नहीं कौन जीता और कौन हारा। नगर के दरवाजे संजय के रथ की प्रतीक्षा में अपलक खुले हुए थे किन्तु वह संजय जिसको अमर रहने का वरदान मिला था, तटस्थ रह कर जो दिव्य दृष्टि से सब कुछ देखकर अन्धे राजा धृतराष्ट्र को सत्य-कथन करता था वही संजय मोह रूपी रात्रि से घिर कर न जाने किन कंटकाकीर्ण पथों में घूम रहा था।

दूसरा अंक

पशु का उदय—संजय एक बन में भटक रहे थे। वे चिन्तित थे कि इस लज्जाजनक पराजय का समाचार हस्तिनापुर में जा कर कैसे कहूँगा। वहीं पर संजय को कृतवर्मा मिले। कृतवर्मा को आश्चर्य हुआ कि पाँडवों ने संजय को जीवित कैसे छोड़ दिया। संजय बोले यद्यपि सात्यकि ने मेरा वध करना चाहा था लेकिन व्यास के इस वरदान के कारण कि 'मरेगा नहीं संजय अवध्य है' मैं तो बच गया लेकिन अब सोचता हूँ महायुद्ध के सम्पूर्ण सत्य को मैं जा कर कैसे बताऊँगा—

कैसे बताऊँगा !
वह जो सम्राटों का अधिपति था
खाली हाथ
नंगे पाँव
रक्त सने
फटे हुए वस्त्रों में
टूटे रथ के समीप
खड़ा था निहत्था ही;
अश्रु भरे नेत्रों से
उसने मुझे देखा
और माथा झुका लिया
कैसे कहूँगा
मैं जा कर उन दोनों से
कैसे कहूँगा ?

संजय आगे बढ़ गये। कृतवर्मा अकेले रह गये। इतने में इनकी भेंट कृपाचार्य से हुई जो अश्वत्थामा को ढूँढते फिर रहे थे। कौरव पक्ष में केवल ये तीन बचे थे। कृपाचार्य ने बताया कि रथ से उतर कर जब राजा दुर्योधन ने नतमस्तक हो कर पराजय स्वीकार की तो अश्वत्थामा यह नहीं देख सके। उसी समय उसने अपना धनुष मरोड़ दिया और आर्तनाद करता हुआ बन की ओर चला गया। मैं उसी को ढूँढ रहा हूँ।

इधर थोड़ी ही दूर पर अश्वत्थामा अपने अतीत को दुहरा रहे थे। उसे याद आ रहा था कि युधिष्ठिर की इस घोषणा से कि 'अश्वत्थामा मारा गया' पिता द्रोणाचार्य ने अपने शस्त्र रख दिये थे और उन्हें निहत्था पा कर पापी धृष्टदुम्न ने उन्हें शास्त्रों से खंडित कर डाला था। द्रोणाचार्य को युधिष्ठिर की वाणी पर अटल आस्था थी किन्तु धर्मराज होकर भी युधिष्ठिर ने मानव अथवा पशु में कोई भेद नहीं किया और उसके अर्धसत्य ने ही पिता द्रोण का वध कर डाला। अश्वत्थामा दुःखी होकर पहले तो सोचते हैं कि आत्मघात कर लिया जाए लेकिन पुनः वे सोचते हैं कि मैं जीवित रहूँगा और एक अन्धे बर्बर पशु सा वध करूँगा, केवल वध करूंगा। यही मेरे अस्तित्व का अन्तिम अर्थ होगा। इसी बीच संजय वहाँ से निकलते हैं और अश्वत्थामा उसका गला दबोच लेते हैं। यदि पीछे से कृतवर्मा और कृपाचार्य अश्वत्थामा को न पकड़ लेते तो अनर्थ हो गया होता। दोनों ने अश्वत्थामा को बुरा भला कहा इसके उत्तर में अश्वत्थामा ने बड़ा ही तर्कसंगत उत्तर दिया।

मैं क्या करूँ ?
मातुल !
मैं क्या करूँ ?
वध मेरे लिए नहीं रही नीति
वह है अब मेरे लिये मनोग्रन्थ

दोनों ने अश्वत्थामा को सांत्वना दी और कहा—निराश मत हो। अभी हमें बहुत कुछ करना है। दुर्योधन भी अभी जीवित हैं। वे सरोवर में माया से जल को बाँध कर निश्चल रूप से अन्दर बैठे हैं। चल कर उनसे आदेश लूँ कि क्या करना है ? वे चले गये तो वही वृद्ध याचक (भविष्य) जो अभी हस्तिनापुर हो कर आया था, उस पथ से निकला। वह कहता जा रहा था कि आज इस पराजय की बेला में यह सिद्ध हो गया कि भविष्य की सारी अनिवार्यता झूठी है केवल कर्म सत्य है। इस कर्म में ही युग युग तक का भविष्य निहित है। वृद्ध याचक ने पथ में पड़े हुए अश्वत्थामा के धनुष को देखा। इतने में अश्वत्थामा लौट कर आया। उसने वृद्ध याचक को पहचान लिया और दुर्योधन की पराजय पर बुरा भला कहा। वृद्ध याचक ने कहा कि यह दुर्योधन की पराजय नहीं

है तुम इसे नये सत्य की उदय बेला मानो, किन्तु अश्वत्थामा के विक्षिप्त मानस में केवल प्रतिहिंसा व्याप्त थी। उसने उस झूठे भविष्य का भी वध कर दिया और कृपाचार्य आदि के पूछने पर उन्हें यही कहा कि हे मातुल ! मैं क्या करूँ ? अब वध मेरे लिये नीति न रह कर मनोग्रन्थी बन गई है। कृपाचार्य ने अश्वत्थामा को लिटा दिया और उससे सो जाने का आग्रह किया और कहा कि तुम अस्वस्थ हो, आराम करो। कल देखेंगे पाँडव क्या करते हैं ? अश्वत्थामा लेट तो गये लेकिन मनोग्रन्थी बार-बार उन्हें व्यग्र करती रही।

तीसरा अंक

अश्वत्थामा का अर्धसत्य—संजय ने हस्तिनापुर पहुँच कर धृतराष्ट्र और गांधारी को युद्ध की पराजय की कथा कही। दोपहर होते होते खंडित रथों पर बचे खुचे घायल सैनिक, ब्राह्मण, स्त्रियाँ, चिकित्सक आदि हस्तिनापुर को लौट आये। धृतराष्ट्र ने अन्धा होकर भी अपने हाथ के स्पर्श से उन घायल सैनिकों को देखा और युद्ध के भयंकर परिणाम का अनुभव किया। एक गूँगे प्यासे सैनिक को पानी पिलवाया और अपने महल में ही विश्राम करने का आदेश दिया। गान्धारी यह सब कुछ देख कर जड़ हो गई थी। इस शोक-संतप्त गम्भीर क्षणों में नगर के अन्दर एक शोर फैल गया कि कौरवों की घायल सेना के साथ कोई विपक्षी योद्धा भी आया है। जनता कहती है कि वह नगर को लूट लेगा। वस्तुतः वह युयुत्सु था। युयुत्सु दुर्योधन का ही भाई था लेकिन सत्य को कौरवों से अधिक बड़ा मान कर वह पाँडवों की ओर से लड़ा था। वह लौट तो आया था किन्तु मन-ही-मन सोच रहा था कि कौन जाने मेरे माता और पिता जहर बुझे भाले से ही मेरा स्वागत करें। विदुर ढूँढते हुए आये। उन्होंने युयुत्सु को पहचान लिया और कहा कि तुमने वापिस आकर बहुत अच्छा किया। हो सकता है पुत्रशोक पीड़ित माता गाँधारी तुम्हें पाकर दुःख भूल जाए। माता गांधारी ने युयुत्सु के आगमन पर कोई ममत्व नहीं दिखाया। उस पर बड़े व्यंग्य कसे और चुपचाप बिना युयुत्सु से बोले लौट गई। माँ की इस उपेक्षा से युयुत्सु के मुख से निकल गया कि इससे अच्छा तो यही था कि मैं असत्य से समझौता कर लेता। इससे कम-से-कम माँ की कटुता और प्रजा की घृणा तो न सहनी पड़ती। विदुर ने उसे सान्त्वना दी और एक गूँगे सैनिक को जो शायद दम तोड़ रहा था अपने हाथ से जल पिलाने को कहा लेकिन जैसे ही उस गूँगे ने आँख

खोली और पानी मुँह से लगाया वैसे ही वह चीख उठा और गिरता पड़ता हुआ वहाँ से भागा। विदुर को बड़ा विस्मय हुआ। युयुत्सु ने बताया कि इस कौरव सेना के अश्वारोही को मैंने स्वयं ही नष्ट किया है, फिर भला वह मेरी करुणा को कैसे स्वीकार कर सकता था ? ऐसे में उसे कृष्ण से घृणा हो जाती है और वह व्यंग्य कसता है—

जय है यह कृष्ण की
जिसमें मैं बधिक हूँ
मातृवंचित हूँ
सब की घृणा का पात्र हूँ

इधर युयुत्सु के साथ यह सब कुछ हो रहा था और उधर संजय यह समाचार लाए कि द्वन्द्व युद्ध में राजा दुर्योधन पराजित हो गये। सारी हस्तिनापुर में हाहाकार मच गया।

अश्वत्थामा छद्म वेश धारण कर दुर्योधन और भीम क इस द्वंद्व युद्ध को देखने गये थे। उसने आ कर कृतवर्मा और कृपाचार्य को समाचार दिया कि राजा दुर्योधन अधर्म से मारे गये हैं। इसी बीच वहीं से बलराम और कृष्ण निकले। बलराम कृष्ण को लांछित कर रहे थे कि हे कृष्ण ! तुम कुछ भी कहो भीम ने दुर्योधन पर अधर्म वार करके आज बड़ा भारी अन्याय किया है। मैं तो आज ही भीम को बता देता लेकिन तुमने रोक दिया। हे कृष्ण ! मैं जानता हूँ कि तुम बचपन से ही मर्यादाहीन और कूट बुद्धि रहे हो लेकिन मैं कहे देता हूँ कि—

सारी तुम्हारी कूटबुद्धि
और प्रभुता के बावजूद
शंखध्वनि करते हुए
अपने शिवरों को जो जाते हैं पांडव गण,
वे भी निश्चय मारे जायेंगे अधर्म से

अश्वत्थामा ने बलराम की कही हुई अन्तिम पंक्ति को दोहराया और निश्चय किया कि जिन पाँडवों ने मेरे पिता को और दुर्योधन को अधर्म से मारा है उन्हें मैं भी अधर्म से ही मारूँगा। कृपाचार्य अश्वत्थामा के विचार से सहमत हो गये और उसे सेनापति घोषित करने के लिये दुर्योधन के पास ले गये।

दुर्योधन अभी जीवित था, युद्धस्थल में पड़ा था। दुर्योधन ने कृपाचार्य से कहा— तुम ब्राह्मण हो। यहाँ जल नहीं है। तुम स्वेद जल से ही वीर अश्वत्थामा का अभिषेक कर दो। कृपाचार्य ने अश्वत्थामा को आर्शीवाद दिलाने के लिये जैसे ही दुर्योधन का निर्जीव हाथ उठाया घोर पीड़ा के कारण उसके मुख से आर्शीवाद की बजाय हृदय विदारक चीख निकल पड़ी और विदा देते कहा कि हे अश्वत्थामा! जब तक तुम प्रतिशोध का समाचार नहीं दोगे मैं तब तक जीवित रहूंगा भले ही बनपशु मेरा अंग अंग क्यों न चबा जाएँ। लौट कर कृतवर्मा और कृपाचार्य तो विश्राम करने लगे और अश्वत्थामा धनुष लेकर उन्हें यह कह कर पहरा देने लगे—

सो जाओ आज रात
सैनिकगण।
कल सेनापति अश्वत्थामा
बतलायेगा
तुमको क्या करना है

लेकिन कल किसने देखी थी रात को ही एक ऐसी घटना घटी कि जिससे कार्यक्रम ही बदल गया कि बन में जिस पेड़ के नीचे वे आराम कर रहे थे उस वृक्ष के ऊपर एक उल्लू ने एक सोते हुए कौवे पर वार किया और उसे मार दिया। अश्वत्थामा को मानो अपनी समस्या का हल मिल गया। उसने उसी समय नींद में निहत्थे, अचेत, विजयी पाँडवों को मारने का निश्चय किया। कृपाचार्य यद्यपि इस विचार से सहमत नहीं थे लेकिन सेनापति की आज्ञा समझ कर वे भी विवश से हो उसके पीछे हो लिये और कृतवर्मा पीछे पीछे सिर झुकाये चल दिया इस अधर्म कर्म में केवल अश्वत्थामा ही उत्साही था शेष दोनों सेनानी आदेश की बन्धी डोर से उसके पीछे चले जा रहे थे, उत्साह नाम की उनमें कोई चीज नहीं थी।

अन्तराल

पंख, पहिये और पट्टियाँ—अश्वत्थामा ने जिस झूठे भविष्य अथवा वृद्ध याचक का वध कर दिया था वह प्रेतात्मा का रूप धारण कर प्रगट हुआ। उसने अपनी प्रेत शक्ति से सारे प्रवाह को एवं कथा की गति को बांध दिया एवं सब पात्रों को अपने स्थान पर स्थिर कर दिया। वे सभी पात्र इस प्रेत शक्ति की

मन्त्र शक्ति से ही परिचालित होते थे। उसकी मन्त्र शक्ति से ही युयुत्सु, विदुर और संजय खिचे हुए से आ गये और उस प्रेत शक्ति के पीछे एक पंक्ति में खड़े होकर अपना अपना परिचय दिया। युयुत्सु ने बताया कि मैं रथ के उस पहिये की तरह हूं जो पूरे युद्ध के दौरान रथ में लगा रहा किन्तु अन्त में महसूस हुआ कि मैं गलत धुरी में लगा हुआ था और अब मैं अपनी उस धुरी से उतर गया हूं। संजय बोले—मैं दो पहियों के बीच लगा हुआ एक निरर्थक सा शोभा चक्र हूँ जिसका स्वयं का कोई अस्तित्व नहीं है और विदुर बोले मैं कृष्ण का भक्त हूं, नीतिज्ञ हूँ लेकिन इन असाधारण परिस्थितियों में मेरी साधारण नीतियाँ असफल हो गई हैं।

प्रेतात्मा इन तीनों का परिचय ले ही रही थी कि इसी बीच कृष्ण और अश्वत्थामा का रथ आता हुआ दिखाई दिया। अहंकारवश उसने अपने सम्मोहन की असफल चेष्टा से कृष्ण के रथ को रोकने का प्रयत्न किया लेकिन उसे वह रोक नहीं सका। उसके पीछे दूसरा रथ अश्वत्थामा का था जिसकी गति को प्रेतात्मा तो क्या कृष्ण भी रोक पाने में समर्थ नहीं थे। रथ आगे बढ़ गये। कथा की गति को बाँधना प्रेतात्मा के बस की बात नहीं रही। कृष्ण का रथ तो अन्धेरे में पीछे छूट गया और अश्वत्थामा का रथ पाँडवों के शिविर में पहुंच गया लेकिन शिविर के द्वार पर ही अश्वत्थामा के सम्मुख एक विराटकाय दैत्य काली चट्टान के सम अड़ कर खड़ा हो गया था। न जाने वह कौन था ? प्रेतात्मा उस दृश्य को देखकर भयभीत हो गया और उसने घबराकर हथेलियों से अपनी आँखें बन्द कर लीं।

चौथा अंक

गान्धारी का शाप—वह विराटकाय दैत्य और कोई नहीं स्वयं शिव थे। उन्होंने प्रलय-मेघ-गर्जन स्वर में कहा पहले मुझे जीतो तब अन्दर जा सकोगे। समस्त दिव्यास्त्रों का प्रयोग करके भी अश्वत्थामा पराजित हुए और हार मानकर उसने शिव की वन्दना की। शिव प्रसन्न होकर बोले—

अश्वत्थामा तुम विजयी होगे निश्चय
हो चुका पाँडवों के पुण्यों का अब क्षय
मैं कृष्ण-प्रेम वश
अब तक उनकी रक्षा करता था

मैं विजय दिलाता
इनमें नया पराक्रम भरता था
पर कर अधर्म वध
द्वार उन्होंने स्वतः मृत्यु के खोले

आगे जो कुछ हुआ संजय ने अपनी दिव्य शक्ति द्वारा गान्धारी को कह सुनाया। अश्वत्थामा शंकर की दैवी असि को लेकर पाँडवों के शिविर में जा पहुँचे। सर्वप्रथम उसने अपने पिता के हत्यारे धृष्टद्युम्न का वध किया। शिखण्डी को माथे के बीचों-बीच एक बाण मारकर सदा के लिए सुला दिया। इतने में शिविर के योद्धा, स्त्रियाँ तथा बाल-बच्चे भी जग गये। कृपाचार्य और कृतवर्मा पांडव शिविर के दोनों मुख्य द्वारों पर खड़े थे। उन्होंने भागने वाले निहत्थे प्राणियों पर बाणों की वर्षा की और अन्ततः शिविर में आग लगा दी। इस प्रकार देखते ही देखते अश्वत्थामा ने पांडव शिविर को ध्वस्त कर दिया।

गान्धारी बोली—हे संजय! वीर अश्वत्थामा ने ऐसा कार्य किया है जो न तो मेरे सौ पुत्र कर सके, न द्रोण और न ही भीष्म। उस वीर अश्वत्थामा को मैं देखना चाहती हूँ। एक बार अपनी दिव्य दृष्टि से मुझको उनका दर्शन करवा दो। संजय बोले—माता! वह बड़ा कुरूप और भयंकर है किन्तु गान्धारी नहीं मानी। तब संजय ने अपने सारे पुण्यों के बल को एकत्रित किया और कहा—माता! व्यास ने मुझको यह दिव्य दृष्टि केवल युद्ध की अवधि के लिए दी थी पता नहीं कब यह मुझसे छिन जाये। अतः लो अश्वत्थामा के दर्शन करो। धीरे-धीरे सामने से अँधेरा छँटने लगा और वह स्थान दिखाई दिया जहाँ मरणासन्न दुर्योधन पड़े हुए थे। कृपाचार्य और कृतवर्मा उन्हें कह रहे थे कि महाराज! सेनापति अश्वत्थामा ने आज पूरे पाँडव शिविर को ध्वस्त कर दिया है। यह सुनकर महाराज के मुख पर सन्तोष की आभा आई लेकिन महाराज की आँखें अश्वत्थामा को ढूँढ रही थीं और अश्वत्थामा अपना ब्रह्मास्त्र और मणि लेने गया था क्योंकि इसके बाद कृपाचार्य, कृतवर्मा और अश्वत्थामा तीनों ने निश्चय किया था कि वे घोर वन में चले जायेंगे। यह कह कर संजय ने गान्धारी की ओर देखा जिसकी आँखों पर अभी तक पट्टी बँधी हुई थी। संजय के पूछने पर गान्धारी बोली—मैं मरणोन्मुख दुर्योधन का मुख

नहीं देख सकती अतः यह पट्टी बँधी ही रहने दो और जो कुछ हो रहा है मुझे बताते जाओ ।

संजय ने बताया कि कुछ देर बाद वहाँ अश्वत्थामा आ गया । अश्वत्थामा उदास था क्योंकि उसने धृष्टद्युम्न को मारकर अपने पिता की पापहत्या का बदला अवश्य ले लिया था लेकिन उत्तरा के गर्भ से जन्म लेने वाले पाँडवों के उत्तराधिकारी को उसने अभी समाप्त नहीं किया था । अश्वत्थामा ने अपना कार्य पूरा करने की प्रतिज्ञा की । इसी बीच महाराज चल बसे । गान्धारी चीख कर मूर्छित हो गई । कृपाचार्य मुँह ढक कर रोने लगे और अश्वत्थामा ने पुनः प्रतिज्ञा की कि हे कृष्ण ! जैसे तुमने गान्धारी की कोख पुत्रहीन कर दी है वैसे ही मैं उत्तरा को पुत्रहीन कर दूँगा । अश्वत्थामा की प्रतिज्ञा सुनकर गान्धारी की वीर अश्वत्थामा के प्रति विशेष अनुरक्ति हो गई और उसने अश्वत्थामा के शरीर को वज्र बना देने के लिए अपनी आँखों की पट्टी उतार फेंकी । गान्धारी का आँखों से पट्टी उतारना था कि संजय की दिव्य दृष्टि जाती रही । अन्धों को सत्य दिखाने में उसे भी अन्धा होना पड़ा । विदुर को लगा जैसे अब सब समाप्त होने वाला है । इसलिए वह संजय, युयुत्सु, गान्धारी तथा धृतराष्ट्र एवं पुत्रवधुओं को लेकर अन्तिम संस्कार के लिए युद्ध भूमि को चले । बीच में ही वन में उन्हें कृतवर्मा, कृपाचार्य और अश्वत्थामा मिले । अश्वत्थामा बिल्कुल बदल गया था । वह वीरता की नहीं बल्कि भय की प्रतिमूर्ति लगता था और कहता था कि मैं बल्कल धारण करके तपोवन में चला जाऊँगा । उधर कृष्ण पांडवों को लेकर उसकी खोज कर रहे थे । उन्होंने शीघ्र ही अश्वत्थामा को ढूँढ निकाला । अर्जुन ने अश्वत्थामा पर अग्निबाण छोड़ा जिसके उत्तर में अश्वत्थामा ने जोश में आकर ब्रह्मास्त्र छोड़ते हुए कहा कि हे अर्जुन ! मैं तो चाहता था कि बल्कल धारण कर तपोवन चला जाऊँ लेकिन लगता है पूरे पांडव वंश को निर्मूल किए बिना शायद कृष्ण की युद्ध लिप्सा शान्त नहीं होगी । अतः यह ब्रह्मास्त्र लो इसे एक क्या करोड़ कृष्ण भी नहीं मिटा पायेंगे । इसे छोड़ते ही व्यास ने आकाशवाणी की कि हे अश्वत्थामा ! तूने यह क्या किया ? क्या तुझे ब्रह्मास्त्र के परिणाम का ज्ञान नहीं है ? यदि इसका विस्फोट हुआ तो पृथ्वी पर रसमय वनस्पति नहीं होगी, संतानें भी विकलांग होंगी । सारी जाति बौनी हो जायेंगी और नदियों में पानी की जगह आग पिघल-पिघल

कर बहेगी। इधर व्यास अश्वत्थामा को समझा ही रहे थे कि अर्जुन ने भी कृष्ण के पूछे बिना ही प्रत्युत्तर में ब्रह्मास्त्र छोड़ दिया। उन दोनों के टकराते ही सूरज बुझ जायेगा और धरा बंजर हो जायेगी। व्यास ने बार-बार अश्वत्थामा को समझाया कि वह अपने ब्रह्मास्त्र को वापिस ले ले और अपने मस्तक की मणि को देकर वन में चला जाये। अश्वत्थामा बोले—

व्यास मैं अशक्त हूँ !
मुझको है ज्ञात रीति केवल आक्रमण की
पीछे हटना मुझको या मेरे अस्त्रों को
मेरे पिता ने सिखाया नहीं

व्यास के बार-बार समझाने पर अश्वत्थामा बोले—

अच्छा तो सुन लो व्यास
सुन लो कृष्ण—
यह अटूट अस्त्र अश्वत्थामा का
निश्चित गिरे जा कर
उत्तरा के गर्भ पर।
वापस नहीं होगा।

ब्रह्मास्त्र उत्तरा के गर्भ में जाकर गिरा किन्तु कृष्ण ने यह कह कर उसकी रक्षा कर ली कि

यदि यह ब्रह्मास्त्र गिरता है तो गिरे
लेकिन जो मुर्दा शिशु होगा उत्पन्न
उसे जीवित करूँगा मैं
देकर अपना जीवन

और अश्वत्थामा से कृष्ण ने मणि ले ली तथा इसे भ्रूण हत्या का शाप देकर छोड़ दिया। खिन्न मन अश्वत्थामा नतमस्तक होकर अज्ञात दिशा में चले गये। उनके अंग अंग पर शाप के कारण कोढ़ निकल आया और इसका सारा शरीर रोगी कुत्ते-सा दुर्गन्धपूर्ण हो गया। माता गान्धारी अपने परिजनों के साथ जब अपने पुत्रों का संस्कार कर रही थीं उस समय उसने वीर अश्वत्थामा को इस दशा में देखा तो गान्धारी का रोम-रोम पीड़ा से कराह उठा और उसने

कृष्ण को शाप दिया—

कृष्ण सुनो

×　　×　　×

यदि मेरी सेवा में बल है
संचित तप में धर्म है
तो सुनो कृष्ण

×　×　×

सारा तुम्हारा वंश
उसी तरह पागल कुत्तों की तरह
एक दूसरे को परस्पर फाड़ खायेगा
तुम खुद उनका विनाश करके कई वर्षों बाद
किसी घने जंगल में
साधारण व्याध के हाथों मारे जाओगे

कृष्ण ने माता गान्धारी का यह शाप स्वीकार कर लिया और कहा कि हे माँ! तुम पुत्रहीना नहीं हो। मैं तुम्हारा ही पुत्र हूँ। मुझे तुम्हारा शाप स्वीकार है। यह सुन कर माता गान्धारी की कृष्ण पर अगाध ममता उमड़ आई और वह पछताने लगी कि मैंने यह क्या किया? किन्तु भला अब क्या हो सकता था।

पाँचवाँ अंक

विजय : एक क्रमिक आत्महत्या—समय बीतता गया। ब्रह्मास्त्रों से झुलसी धरती संभलने लगी। युधिष्ठिर का राज्याभिषेक भी हो गया लेकिन कौरव नगरी में वह शोभा और संपान्नता फिर लौट कर नहीं आई। विजयी होकर भी सबका विश्वास टूट चुका था और शापग्रस्त होने के कारण स्वयं कृष्ण भी शक्तिहीन हो चले थे। भीम बुद्धि से मन्द थे और प्रकृति से अभिमानी थे। अर्जुन असमय में ही वृद्ध हो गये थे। नकुल अज्ञानी थे, सहदेव अर्धविकसित। एकमात्र युधिष्ठिर ही ऐसे थे जिनके माथे पर भावी युग की चिन्ताएँ थीं। वे अक्सर रात और दिन इसी चिन्ता में डूबे रहते। उन्हें राज्य से थोड़ा सा भी मोह नहीं रह गया था।

भीम ऐसे मन्दबुद्धि थे कि बेचारे युयुत्सु को बार-बार छेड़ते रहते थे। भीम की दूक्तियों से मर्माहित होकर ही धृतराष्ट्र और गान्धारी वन में चले गये थे और आज कौरव वंश के एकमात्र उत्तराधिकारी युयुत्सु ने भी भीम के अत्याचारों से तंग आकर आत्महत्या कर ली। उसमें कुछ-कुछ प्राण शेष देखकर विदुर ने यह निश्चय किया कि उसे वह अपनी कुटिया में ले जायेंगे और वहाँ उसकी परिचर्या करेंगे। कृपाचार्य यह देखकर बड़े दुःखी हुए और उन्होंने भी आत्माघात वाली इस युधिष्ठिर की संस्कृति में न रहने की प्रतिज्ञा की।

उधर जंगल में आग लग गई। धृतराष्ट्र और गान्धारी तथा पाँडवों की माता कुन्ती इस आग में जल मरीं। संजय, जो उनके साथ थे मरे तो नहीं लेकिन उन पर धधकता हुआ एक बरगद गिर जाने के कारण पदहीन हो गये।

इन सब समाचारों ने युधिष्ठिर को और भी अधिक उदास बना दिया। उन्होंने चक्रवर्ती सम्राट् का मुकुट धारण करना भी छोड़ दिया। दूतों से यह सूचना मिली कि यादव कुल में परस्पर कलह बढ़ गई है और कृष्ण ने शीघ्र ही अर्जुन को द्वारिकापुरी में बुलाया है। एक तरफ युधिष्ठिर को यह समाचार मिला तो दूसरी तरफ उसे यह सन्देश मिला कि अपने माता-पिता का तर्पण करने के बाद युयुत्सु के घाव खुल गये और वे भी मर गये। निराश होकर महाराज युधिष्ठिर ने भी हिमालय के शिखरों में गल जाने का निश्चय किया।

समापन

प्रभु की मृत्यु—यादव वंश में ऐसी कलह बढ़ी कि कृष्ण ने नशे में डूबे हुए अपने सारे बन्धुओं को मार डाला और निराश होकर वन में एक वृक्ष के नीचे आकर लेट गये। वहाँ एक शिकारी ने कृष्ण के पैर को मृग का मुख समझकर बाण छोड़ दिया और इस प्रकार गान्धारी का शाप सत्य हुआ। धरा प्रभुहीन हो गई और आस्थाहत कलयुग ने अपना प्रथम चरण रखा। आश्चर्य की बात यह हुई कि बाण लगते ही कृष्ण के पैर से पीपभरा दुर्गन्धित नीला रक्त निकला और अश्वत्थामा का सारा कोढ़ शान्त हो गया। कृष्ण की मृत्यु के उपरान्त प्रेतात्मा के रूप में युयुत्सु प्रकट हुए और उसने कृष्ण को बुरा-भला कहा। अश्वत्थामा और संजय के समक्ष उसने कहा कि ऐसे प्रभु को तो मरना ही

था। इसके पीछे मैंने जीवन भर घृणा सही और आत्मघात करने के लिए मजबूर हुआ। फिर भला कौन ऐसा है जो ऐसे प्रभु पर अपनी आस्था रख सके ? कृष्ण का हत्यारा व्याध वहीं खड़ा था। उसने युयुत्सु का उत्तर देते हुए कहा —

अब मैं वृद्ध व्याध हूँ
नाम मेरा जरा है
बाण है वह मेरे ही धनुष का
जो मृत्यु बना कृष्ण की
पहले मैं था वृद्ध ज्योतिषी
वध मेरा किया अश्वत्थामा ने
प्रेतयोनि से मुक्त करने को मुझे, कहा कृष्ण ने—
'हो गई समाप्त अवधि माता गान्धारी के शाप की
उठाओ धनुष
फेंको बाण।'

यह सुनकर अश्वत्थामा ने कहा कि तुम्हारा वध करके वस्तुतः मैंने पाप किया था लेकिन क्या करूँ ? मेरे भीतर अन्धा युग बैठ गया था जिसके कारण मेरे भीतर से यह प्रतिहिंसा फूट पड़ी। अब तो प्रभु ने मेरे जख्मों की पीड़ा शान्त करके मुझे मुक्ति प्रदान कर दी है। युयुत्सु बोले—प्रभु के मरण से वधिकों को तो मुक्ति मिल गई लेकिन प्रभु के इस कायर मरण के बाद मानव के भविष्य का क्या होगा ? पुनः इसका उत्तर वृद्ध व्याध ने ही दिया। वे बोले कि कृष्ण अपने अवसान के क्षणों में यह कह गये थे कि हे व्याध ! यह मेरा मरण नहीं है बल्कि शरीर का रूपान्तर मात्र है। जब तक मैं रहा मैंने सब का दायित्व अपने ऊपर सम्भाले रखा। अब मैं अपना दायित्व सब को सौंप कर जा रहा हूँ। मेरे दायित्व को ग्रहण करके आने वाली संतति सभी परिस्थितियों का अतिक्रमण करके मर्यादा, निर्भयता, साहस और ममता के साथ पिछले ध्वंस पर नूतन निर्माण करेगी और ऐसे क्षणों में मैं बार-बार जीवित और सक्रिय हो उठूँगा। वृद्ध व्याध ने बार-बार दोनों बाहें ऊपर उठा कर कृष्ण का यह अन्तिम सन्देश निष्क्रिय एवं अपंगु संजय, अमानुषिक

अश्वत्थामा एवं आत्मघाती युयुत्सु को सुनाया—

निश्चय ही ! वे
वे हैं भविष्य
किन्तु हाथ में तुम्हारे है।
जिस क्षण चाहो उसको नष्ट करो
जिस क्षण चाहो उनको जीवन दो, जीवन दो

× × ×

कोई सुनेगा ?
क्या कोई सुनेगा ?
क्या कोई सुनेगा ...

———

: ३ :

'अन्धा युग' : कथा-शिल्प

'अन्धा युग' एक गीति नाट्य है। दूसरे शब्दों में यह वृत्तात्मक संवादों वाला नाटक है। नाटक की कथावस्तु प्रख्यात होती है—

'नाटकं ख्यातवृत्तं स्यात् पञ्च सन्धि समन्वितम्'

(साहित्यदर्पण)

डा० भारती ने भी अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए 'प्रख्यात' कथावस्तु चुनी है जैसा कि उनके 'निर्देश'—गत कथन से स्पष्ट है—'इस दृश्यकाव्य में जिन समस्याओं को उठाया गया है, उसके सफल निर्वाह के लिए महाभारत के उत्तरार्द्ध की घटनाओं का आश्रय ग्रहण किया गया है। अधिकतर कथावस्तु 'प्रख्यात' है, केवल कुछ ही तत्त्व 'उत्पाद्य' हैं—कुछ स्वकल्पित पात्र और कुछ स्वकल्पित घटनाएँ। प्राचीन पद्धति भी इसकी अनुमति देती है।'

इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि इस नाटक की अधिकांश कथावस्तु 'प्रख्यात' है; इतिहास-सम्मत है; पुराण-प्रसिद्ध है। महाभारत में अश्वत्थामा, गाँधारी, धृतराष्ट्र, विदुर, संजय, कृष्ण, बलराम, युयुत्सु, व्यास, कृपाचार्य और कृतवर्मा का स्पष्ट उल्लेख है। यह भी पुराण-प्रसिद्ध है कि धृतराष्ट्र और गान्धारी अन्धे थे, संजय को दिव्य दृष्टि मिली थी, भीम ने कृष्ण की कूटनीति से प्रेरित होकर दुर्योधन पर अधर्म वार किया था, कृपाचार्य और कृतवर्मा के साथ सोये हुए अश्वत्थामा ने रात्रि में एक उलूक द्वारा सुप्त कौओं का वध देखकर सोते हुए पाण्डवों की हत्या करने की प्रतिज्ञा की थी और वह अपनी लक्ष्य-सिद्धि में सफल हुआ था, उसने ब्रह्मास्त्र चलाया था, कृष्ण ने उसके सिर की मणि ले ली थी। किन्तु इस इतिहास-सम्मत कथानक को नाटककार ने आधुनिक कालोपयोगी रूप में प्रस्तुत किया है। उसने इन समस्त घटनाओं और पात्रों को प्रतीकात्मक

बना दिया है। प्रहरी युग्म और वृद्धयाचक उत्पाद्य पात्र हैं और उनसे सम्बद्ध घट-नाएँ भी उत्पाद्य अर्थात् काल्पनिक हैं। 'अन्धा युग' के विषय में लेखक का यह कथन सही प्रतीत होता है 'बाह्य घटनाओं की अपेक्षा साहित्यकार का ध्यान सामाजिक व्यवस्था द्वारा उद्भूत जटिल रागात्मक स्थितियों और उनसे उत्पन्न होने वाली विषमताओं, विकृतियों तथा असन्तुलन पर केन्द्रित रहता है और वह उन्हीं का परिहार एवं परिष्कार करता है। कभी वह उसके लिए तात्कालिक नाम, स्थिति और पृष्ठभूमि ग्रहण करता है, कभी वह उसी को पौराणिक और काल्पनिक देश-काल और पात्रों के माध्यम से अभिव्यक्त करता है, कभी वह उसके लिए अप्रस्तुत प्रतीकों और संकेतों का आश्रय लेता है। साहित्यकार अपने स्तर पर, अपने ढंग से संस्कृति की विराट् प्रक्रिया में योग देता है। रसानुभूति और सौन्दर्य बोध उसके माध्यम हैं, और युग, काल एवं स्थितियों के अनुसार जैसी भी जटिलताएँ होती हैं, वैसी ही सूक्ष्म तथा अप्रत्यक्ष रीति से वह अपना कार्य करता है।' (मानव मूल्य और साहित्य, (पृ० १५२-१५३)

अब हमें 'अन्धा युग' की कथावस्तु का शास्त्रीय विवेचन करना है—पहले भारतीय दृष्टिकोण से और फिर पाश्चात्य दृष्टिकोण से।

भारतीय दृष्टिकोण से कथानक में पञ्च अर्थ प्रकृतियाँ बीज बिन्दु, पताका, प्रकरी और कार्य, कार्य की पंच अवस्थाएँ—आरंभ, यत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम, तथा पञ्च संधियाँ-सुनियोजित होनी चाहिएँ। संधियाँ अर्थ प्रकृ-तियों और अवस्थाओं के योग से बनती हैं। 'सन्धियों के नाम हैं, मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श और निर्वहण। ये सन्धियाँ वस्तुत: कथावस्तु के स्थूल खण्ड कहे जा सकते हैं, स्वभावत: इनसे क्रमश: नाटक के भी स्थूल खण्ड हो जाते हैं। नाटक में सन्धियों का अभिप्राय नाटक की समस्त अर्थ-राशि को परस्पर सम्बद्ध बनाना है। बीज और आरंभ को मिलाकर मुखसन्धि होती है, बिन्दु और प्रयत्न को मिलाकर प्रतिमुखसन्धि, गर्भसन्धि में पताका और प्राप्त्याशा होती है, विमर्श में प्रकरी और नियताप्ति होती है और निर्वहण में कार्य और फलागम संधि होती है।' (रंगमंच और नाटक की भूमिका, पृ० ३३) 'अन्धायुग' का लक्ष्य है—मानव मूल्य की प्रतिस्थापना से मानव-भविष्य को सुरक्षित बनाने की घोषणा। इसके लिए लेखक को संघर्ष और विरोध के रास्ते से जाना पड़ता है; उसे

अन्धे, अमानुषिक और निष्क्रिय लोगों से टक्कर लेनी है और कार्यसिद्धि करनी है। बीज अर्थप्रकृति, आरम्भ कार्यावस्था और मुख सन्धि के दर्शन स्थापना में ही हो जाते हैं—जबकि मानव मूल्य के प्रतीक कृष्ण को ही भविष्य का रक्षक कहा जाता है—

युद्धोपरान्त,
यह अन्धा युग अवतरित हुआ
जिसमें स्थितियाँ, मनोवृत्तियाँ, आत्माएँ सब विकृत हैं
है एक बहुत पतली डोरी मर्यादा की
पर वह भी उलझी है दोनों ही पक्षों में
सिर्फ कृष्ण में साहस है सुलझाने का
वह है भविष्य का रक्षक, वह है अनासक्त
पर शेष अधिकतर हैं अन्धे
पथ भ्रष्ट, आत्महारा, विगलित
अपने अन्तर की अन्धगुफ़ाओं के वासी
यह कथा उन्हीं अन्धों की है
या कथा ज्योति की है अन्धों के माध्यम से
(पृ० १०)

इस प्रकार अन्धों के माध्यम से ज्योति की कथा की सूचना में बीज, आरंभ और मुख की स्थिति है। जब याचक यह बताता है कि कृष्ण के मैदान में आते ही नक्षत्रों की गति बदल गयी तब 'यत्न' कार्यावस्था और 'बिन्दु' अर्थप्रकृति का दर्शन होता है—

सहसा एक व्यक्ति
ऐसा आया जो सारे
नक्षत्रों की गति से भी ज्यादा शक्तिशाली था।
उसने रणभूमि में
विषादग्रस्त अर्जुन से कहा
'मैं हूँ परात्पर।

जो कहता हूँ करो
सत्य जीतेगा
मुझसे लो सत्य, मत डरो।' (पृ० २४)

'पताका' और प्रकरी अर्थप्रकृतियाँ अपने स्पष्ट रूप में यहाँ विद्यमान नहीं हैं, खींचातानी की और बात है, 'प्राप्त्याशा' कार्यावस्था और 'गर्भ' सन्धि का साक्षात्कार वहाँ होता है जहाँ अन्धा धृतराष्ट्र सत्य धारण करना चाहता है और अश्वत्थामा आस्थावान् होता है—

देख कर नहीं यह सत्य ग्रहण कर सका तो आज
मैं अपनी वृद्ध अस्थियों पर
सत्य धारण करूँगा
अग्निमाला-सा ! (पृ० ११३)

'यह जो अनुभूति मिली है
क्या यह आस्था है ?' (पृ० १२३)

'नियताप्ति' कार्यावस्था और 'विमर्श' की दशा वहाँ आती है, जहाँ युयुत्सु मानव-भविष्य की रक्षा के लिए संजय और अश्वत्थामा से प्रश्न करता है एवं 'फलागम' कार्यावस्था और निर्वहण' सन्धि व्याध के इन शब्दों में है—

बोले अवसान के क्षणों में प्रभु—
'मरण नहीं है ओ व्याध !
मात्र रूपान्तरण है वह
सबका दायित्व लिया मैंने अपने ऊपर
अपना दायित्व सौंप जाता हूँ मैं सबको
अब तक मानव-भविष्य को मैं जिलाता था
लेकिन इस अन्धे युग में मेरा एक अंग
निश्चय रहेगा, आत्मघाती रहेगा
और विकलित रहेगा
संजय युयुत्सु, अश्वत्थामा की भाँति
क्योंकि इनका दायित्व लिया है मैंने !"

बोले वे—

'लेकिन शेष मेरा दायित्व लग
बाक़ी सभी……
मेरा दायित्व वह स्थित रहेगा
हर मानव-मन के उस वृत्त में
जिसके सहारे वह
सभी परिस्थितियों का अतिक्रमण करते हुए
नूतन निर्माण करेगा पिछले ध्वंसों पर !
मर्यादायुक्त आचरण में
नित नूतन सृजन में
निर्भयता के
साहस के
ममता के
रस के
क्षण में
जीवित और सक्रिय हो उठूँगा मैं बार बार !'

(पृ० १२७. १२८)

इस प्रकार 'मानवमूल्य की प्रतिष्ठा से भविष्य के सुख की सिद्धि' रूप फलागम हो जाता है।

पाश्चात्य दृष्टिकोण से कथावस्तु में निम्नलिखित ग्यारह पक्ष सन्निहित होते हैं जो 'ड्रामा' की संरचना से सीधे सम्बन्धित हैं :—

उद्घाटन (एक्सपोज़ीशन)
अन्वेषण (डिस्कवरी)
आक्रमण बिन्दु (प्वाइन्ट ऑफ अटैक)
पूर्व छाया (फार शैडोइंग)
संकट (कम्प्लीकेशन)
चरम सीमा (क्लाइमेक्स)

संघर्ष (क्राइसिस)
निर्वहण (डिनाउमेण्ट)
काल-अन्विति (यूनिटी ऑफ टाइम)
स्थान-अन्विति (यूनिटी ऑफ प्लेस)
कार्य-अन्विति (यूनिटी ऑफ ऐक्शन)

'कलावस्तु के इतने पक्ष किसी न किसी रूप-स्तर में सभी महत्त्वपूर्ण ड्रामा में मौजूद रहते हैं। किन्तु प्रायः यह भी देखा जाता है कि ये पक्ष इस क्रम से सभी ड्रामा में समान रूप से विद्यमान रहें—यह कोई निश्चित नहीं है। उदाहरण के लिए चरम सीमा और संघर्ष एक ही बिन्दु पर घटित हो सकते हैं। और उद्घाटन का इस्तेमाल पूर्व छाया के रूप में हो सकता है। फिर भी कथावस्तु से सम्बन्धित इतनी सामग्री ड्रामा-रचना के मूल पक्ष में है।' (डॉ० लक्ष्मीनारायणलाल, रंगमंच और नाटक की भूमिका, पृष्ठ १०९)

जब किसी ड्रामा का पर्दा उठता है, और दर्शक-गण मंच पर नाटक का प्रारम्भिक व्यापार देखने—समझने के लिए आतुर हो उठते हैं, तभी नाटककार के सामने दो महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठते हैं– प्रथम, दर्शक का समूचा ध्यान वह किस प्रकार अपने नाटक के प्रति खींच ले ! दूसरे, वह किस तरह अपने नाटक की सारी पृष्ठभूमि दर्शक को जता दे, ताकि वे पात्रों के पारस्परिक सम्बन्ध को जान लें, नाटक के मूल प्रश्न से उनका नाता जुड़ जाय और वे इस तरह नाटक से सम्बद्ध हो जाएँ। यह उद्घाटन 'अन्धा युग' की स्थापना में देखा जा सकता है जब कि नर्तक के भावनाट्य के साथ नेपथ्य से उद्घोषणा होती है। विष्णु-पुराण के उद्धरणों को सुनकर दर्शक अनुमान कर लेता है कि यह नाटक प्रतीकात्मक है और आधुनिक युग में मानव मूल्य की प्रतिष्ठा - इसका लक्ष्य है, कृष्ण इसके मुख्य पात्र हैं।

नाटककार का दर्शक के प्रति यह दायित्व है कि वह अनेक सूचनाएँ तलाश करके प्रकट करे ताकि विशेषकर विभिन्न पात्रों के व्यक्तित्व का बोध वह दे सके। कौन पात्र क्यों इस तरह व्यवहार कर रहा है, उसकी मनोवृत्ति क्या हैं, क्यों हैं ? इस सब का अन्वेषण वह दर्शक के सामने प्रस्तुत करता है। सबसे सन्तोषप्रद और कलात्मक अन्वेषण वह है जो पात्र द्वारा स्वयं प्राप्त किया जाय,

ताकि उन्हीं से दर्शक अपनी सम्वेदना बँटा सके, यही अन्वेषण प्रभावपूर्ण और स्वाभाविक होता है। 'अन्धा युग' में प्रहरी, वृद्ध याचक की प्रेतात्मा तथा अन्य पात्र अन्वेषण कर हमारे सम्मुख उपस्थित होते हैं।

आक्रमण बिन्दु वहाँ देखा जा सकता है जहाँ गान्धारी तथा अश्वत्थामा कृष्ण (मानवमूल्य) को वंचक और अन्यायी बताते हैं। पूर्वछाया स्थापना में ही है। संकट की स्थिति वहाँ है जहाँ कि कृष्ण के अनुगामी युयुत्सु और विदुर भी प्रभु को निकम्मा समझने लगते हैं और युयुत्सु उनके प्रति अनास्थामय-सा दिखाई देता है। चरम सीमा और संघर्ष गान्धारी के शाप एवं अश्वत्थामा के ब्रह्मास्त्र छोड़ने पर देखे जा सकते हैं जहाँ कि प्रभु (मानवमूल्य) के समक्ष एक निर्णय लेने का विकट समय उपस्थित हो जाता है। गान्धारी शाप देकर मानवमूल्य को ही दुरावस्था में डाल देती है। किन्तु उसके पश्चात्ताप, धृतराष्ट्र के पश्चात्ताप, अश्वत्थामा की आस्था के साथ निर्वहण की स्थिति आ जाती है। मानवमूल्य की प्रतिष्ठा हो जाती है; समस्या का हल हो जाता है। तीनों अन्वितियाँ स्थान, समय और क्रिया (कार्य) का पालन इस नाटक में नहीं हो पाया है क्योंकि इसमें महाभारत के अट्ठारहवें दिन की सन्ध्या से लेकर प्रभास-तीर्थ में कृष्ण की मृत्यु तक की घटनाओं का वर्णन है।

इस प्रकार नाटक की कथावस्तु पूर्णतः नाटकीय है—भारतीय दृष्टिकोण से भी और पाश्चात्य दृष्टिकोण से भी।

: ४ :

अन्धायुग में चरित्र-चित्रण

भारतीय और पाश्चात्य दोनों नाट्य परम्पराओं में नेता या चरित्र का महत्व उद्घोषित है। 'चरित्र के माध्यम से ही कथावस्तु बनती है। चरित्र का व्यक्तित्व, इसकी इच्छाशक्ति ही नाटक का दूसरा कार्य–व्यापार है। नाटक के अन्य तत्त्वों के अनुरूप ही चरित्र के अनेक रूप, उनके निर्माण के विभिन्न शिल्प नाट्य साहित्य में देखने को मिलते हैं।' (रंगमंच और नाटक की भूमिका : डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल, पृष्ठ ११७)

"रचना-शिल्प की दृष्टि से चरित्र-रचना प्रायः चार पक्षों से की जाती है। चरित्र-रचना अपने बाह्य स्वरूप से। चरित्र की शारीरिक दशा, वेश-भूषा, उम्र आदि जिनके आधार से दर्शक या पाठक तत्काल चरित्र से सीधे परिचित हो जाता है। इस पक्ष के वर्णन और सूक्ष्म विवेचन में आधुनिक यथार्थवादी और विशेषकर प्रकृतिवादी नाटककार बहुत ही मर्मज्ञ हैं।

भाषा-बोली दूसरा पक्ष है जिसके द्वारा चरित्र का उद्घाटन होता है चरित्र जिस तरह की भाषा इस्तेमाल करता है, जिस तरह वह बोलता है, जैसा उसका उच्चारण है, बोली की गति है, जैसी उसकी आवाज है, इन सबके द्वारा चरित्र की पहचान बहुत ही स्वाभाविक है।

यथार्थवाद के पूर्व तक नाटककार चरित्र-उद्घाटन के लिए स्वगत-कथन और जनान्तिक का इस्तेमाल करते थे, लेकिन जब से नाट्य क्षेत्र में सत्याभास का चरण आया है, ऐसे साधन प्रायः छोड़ दिए गये हैं।

इसकी पूर्ति के लिए 'कार्य' आ गया है। चरित्र अपने व्यवहार से, अपने छोटे-छोटे कार्यों से अपने व्यक्तित्व की, मनोभाव की सारी सूचनाएँ दे जाता है। यह तीसरा साधन है चरित्र-निर्माण के प्रसंग में।

चौथे प्रसंग में वह पक्ष आता है कि अमुक चरित्र के बारे में पात्र क्या कहते हैं, और उसके लिए वे क्या विचार और प्रतिक्रिया रखते हैं।

वस्तुत: नाटक के समूचे शिल्प पर चरित्र की स्पष्टता, निश्चितरूपता निर्भर करती है। जो नाटक मूलत: प्रस्तुतीकरण के लिए उसी की सारी व्यावहारिक आवश्यकताओं के बीच से लिखे गये होते हैं, उनके चरित्र बड़े ही समृद्धिशाली व्यक्तित्व और निजत्व के होते हैं, और उनमें एक अजीब रंग और प्रभाव होता है क्योंकि तब ऐसे चरित्र 'कार्य' के बीच अपना सहज निर्माण पाते हैं।"

(डॉ० लक्ष्मीनारायणलाल : रंगमच और नाटक की भूमिका पृ० ११७-११८)

अन्धायुग मूलत: 'रंगमंच को दृष्टि में रखकर लिखा गया था' (निर्देश, पृ० २) अत: उसके चरित्र बड़े भव्य व्यक्तित्वशाली हैं। इसमें सोलह पात्र हैं जिनमें पाँच प्रमुख हैं—अश्वत्थामा, कृष्ण, वृद्ध याचक और दो प्रहरी। शेष—गान्धारी, विदुर, धृतराष्ट्र, युधिष्ठिर, कृतवर्मा, कृपाचार्य, संजय, युयुत्सु, गूँगा भिखारी, व्यास और बलराम भी अपना महत्त्व रखते हैं। यद्यपि ये सभी पात्र प्रतीकात्मक हैं तथापि मानवीय धरातल पर भी इनका चरित्र-चित्रण संभव है। इनकी प्रतीकात्मकता पर अन्यत्र प्रकाश डाला गया है। यहाँ उपर्युक्त प्रणाली के आधार पर चरित्र-चित्रण का विवेचन किया जा रहा है।

अश्वत्थामा—अश्वत्थामा सर्वप्रथम हमारे सम्मुख एक भग्नहृदय योद्धा के रूप में उपस्थित होता है। अपने पिता की निर्मम हत्या और दुर्योधन की दीनता से खिन्न होकर वह धनुष को मरोड़ देता है। उसका मन यद्यपि भयावह है किन्तु शक्तिहीन हो चला है। उसको यही चिन्ता है कि वह कैसे पिता की निर्मम हत्या का बदला ले। उसके मस्तिष्क में बारम्बार अपने पिता पर किये गये अधर्म वार का चित्र चमककर टीस पैदा करता है।

युधिष्ठिर का अर्धसत्य अश्वत्थामा के अन्दर के शुभ और कोमलतम की भ्रूणहत्या कर देता है। वह पराक्रमी योद्धा उसी दिन से पशुमात्र अन्ध बर्बर पशु-हो जाता है। वह पराजय की अन्धी गुफा में भटका हुआ है।

एक बार जो अश्वत्थामा जीवन से ऊब जाता है वह अपने जीवित रहने की उपमा देता हुआ कहता है :—

दुर्योधन सुनो !
सुनो, द्रोण सुनो !
मैं यह तुम्हारा अश्वत्थामा
कायर अश्वत्थामा
शेष हूँ अभी तक
जैसे रोगी-मुर्दे के
मुख में शेष रहता है
गन्दा कफ़
बासी थूक
शेष हूँ अभी तक मैं।' (पृ० ३५)

वह आत्मघात करने पर उतारू हो जाता है—

'आत्मघात कर लूँ ?
इस नपुंसक अस्तित्व से
छुटकारा पाकर
यदि मुझे
पिघली नरकाग्नि में उबलना पड़े
तो भी शायद
इतनी यातना नहीं होगी !' (पृ० ३५)

किन्तु दूसरे ही क्षण वह एक प्रतिशोधी होकर जीने का निर्णय कर लेता है। प्रतिशोध की भावना उसे जीवित रहने और संहार करने के लिए प्रेरित और बाध्य करती है। वह भयंकर पशु बनकर जीवित रहने के लिए सन्नद्ध है—

'किन्तु नहीं !
जीवित रहूँगा मैं
अन्ध बर्बर पशु सा

वाणी हो सत्य धर्मराज की ।
मेरी इस पसली के नीचे
दो पंजे उग आयें
मेरी ये पुतलियाँ
बिना दाँतों के चीथ खायें
पायें जिसे !
वध, केवल वध, केवल वध
अन्तिम अर्थ बने
मेरे अस्तित्व का ।' (पृ० ३६)

इसी वध-भावना का अनुचिन्तन करते-करते वह उन्माद की अवस्था में पहुँच जाता है। चाहे उसके सम्मुख तटस्थ आए या शत्रु—वह वध्य है। वह संजय की गर्दन मरोड़ देता है तथा युधिष्ठिर की गर्दन मरोड़ने की भी प्रतिज्ञा करता है—

'इसी तरह
इसी तरह
मेरे भूखे पंजे जाकर दबोचेंगे
वह गला युधिष्ठिर का
जिससे निकला था
'अश्वत्थामा हतो हत:' (पृ० ३२)

उसके लिए वध, नीति नहीं एक मनोग्रन्थि है। एक ओर उसके मन में अपने किये पर पश्चात्ताप होता है दूसरी ओर वह फिर भड़क उठता है। वह अन्तर्द्वन्द्वग्रस्त है तथा एक संहारकारी व्यक्तित्व के रूप में उभरकर आता है। वह भविष्य की हत्या कर देता है। वह लक्ष्यहीन है। मारना चाहता है किसी को मार देता है किसी को। बूढ़े को मारकर वह कहता है :—

'मैंने नहीं मारा उसे······
मैं तो चाहता था वध करना भविष्य का
पता नहीं कैसे वह

बूढ़ा मरा पाया गया ।
मैंने नहीं मारा उसे
मातुल विश्वास करो ।' (पृष्ठ ४५)

उसका व्यक्तित्व बड़ा भयंकर है । कृतवर्मा को उससे भय लगता है—

'कृपाचार्य
भय लगता है
मुझको
इस अश्वत्थामा से । (पृष्ठ ४३)

वह कृतवर्मा की व्यंग्योक्ति पर उसका वध करने को प्रस्तुत होकर क्षिप्रकारिता का परिचय देता है—

'प्रस्तुत हूँ उसके लिए भी मैं कृतवर्मा
व्यंग्य मत बोलो
उठाओ शस्त्र
पहले तुम्हारा करूँगा वध
तुम जो पाँडवों के हितैषी हो ।' (पृष्ठ ६३)

वह प्रतिशोधवादी दृष्टिकोण का व्यक्ति है । 'शठे शाठ्यं समाचरेत्' उसकी नीति है । यदि शत्रु निर्मर्याद होकर अधर्मवाद करता है तो वह भी उसी प्रकार का आचरण क्यों न करे ? पाण्डवों को अधर्म से मारने का वह निश्चय कर लेता है :—

'वे भी निश्चय मारे जायेंगे अधर्म से ।
सोच लिया
मातुल मैंने बिल्कुल सोच लिया
उनको मैं मारूँगा,
मैं अश्वत्थामा
उन नीचों को मारूँगा !' (पृष्ठ ६२)

जब कृपाचार्य उसे मर्यादित रहने को कहते हैं तो उसकी अन्तरात्मा तड़प उठती है—

'सुनते हो पिता
मैं इस प्रतिहिंसा में
बिल्कुल अकेला हूँ
तुमको मारा धृष्टद्युम्न ने अधर्म से
भीम ने दुर्योधन को मारा अधर्म से
दुनिया की सारी मर्यादा बुद्धि
केवल इस निपट अनाथ अश्वत्थामा पर ही
लादी जाती है।' (पृष्ठ ६३)

वह सेनापति अभिषिक्त होकर प्रतिशोध का पथ ढूँढ़ना चाहता है।

वह वचन का पक्का है; स्वामिभक्त है। वह दुर्योधन को जो वचन देता है, उसे निभाता है। उसकी प्रतिज्ञा है—

'सुनते हो कृतवर्मा
कल तक मैं लूँगा प्रतिशोध
सेना यदि छोड़ जाय
तब भी अकेला मैं······?

और आधी रात में काकशावक और उलूक का दृश्य देखकर वह संहार के लिए भाग लेता है। वह संसार की स्टेटेजी को समझता है। कृपाचार्य से वह कहता है—

'पाण्डव शिविर की ओर
नींद में निहत्थे, अचेत
पड़े होंगे
विजयी पाण्डवगण'

× × ×

कृष्ण गये होंगे हस्तिनापुर
गान्धारी को समझाने
इससे अच्छा अवसर
आखिर मिलेगा कब ?'

और वह धृष्टद्युम्न और उत्तरा के गर्भ को भी नष्ट करना चाहता है।

उसकी घृणा रक्तरंगी भयानक है। वह शंकर का भक्त है, साथ ही पराक्रमी भी। पहले तो वह दैत्याकार शंकर से लड़ता है किन्तु बाद में उन्हें पहचानकर उनकी स्तुति करता है।

वह भयंकर नरसंहार करता है; पाण्डवों के शिविर में आग लगा देता है; धृष्टद्युम्न को घूँसों से ही मार देता है; स्त्रियों को हाथियों से कुचलवा देता है। संजय के शब्दों में वह भयंकर और कुरूप है किन्तु गान्धारी के अनुसार वह वीर है। दुर्योधन के सम्मुख वह भयंकर प्रतिज्ञा करता है—

'किन्तु अब भी आपका प्रतिशोध नहीं ले पाया।
शेष है अभी भी,
सुरक्षित है उत्तरा
जन्म देगी जो पांडव उत्तराधिकारी को।
किन्तु स्वामी,
अपना कार्य पूरा करूँगा मैं। (पृष्ठ ८४-८५)

वह ब्रह्मास्त्र का प्रयोक्ता है। वह पहले तो वल्कल धारण करना चाहता है किन्तु अर्जुन के बाण-प्रहार करने पर वह फिर मानी वीर की तरह तनकर खड़ा हो जाता है। वह विवश होकर अर्जुन पर अपना ब्रह्मास्त्र चला देता है—

'रक्षा करो
अपनी अब तुम अर्जुन !
मैंने तो सोचा था
वल्कल धारण कर रहूँगा तपोवन में
पूरे पांडव वंश को
निर्मूल किये बिना शायद
युद्ध लिप्सा
नहीं शान्त होगी कृष्ण की।
अच्छा तो यह लो !
यह है ब्रह्मास्त्र

अर्जुन स्मरण करो अपने
विगत कर्म
इसके प्रभाव को
एक क्या करोड़ कृष्ण नहीं मिटा पायेंगे ।
सुनो तुम सब नभ के देवगण
अपने अपने
विमानों पर आरूढ़
देख रहे हो जो इस युद्ध को
साक्षी रहोगे तुम
विवश किया है मुझे अर्जुन ने
यह लो
यह है ब्रह्मास्त्र ।' (पृ० ९१-९२)

वह वीर बाप का वीर बेटा है जिसने पीछे हटना नहीं सीखा । जब व्यास उसे ब्रह्मास्त्र लौटाने को कहते हैं तो वह कहता है—

'मुझको है ज्ञात रीति केवल आक्रमण की
पीछे हटना मुझको या मेरे अस्त्रों को
मेरे पिता ने सिखाया नहीं । (पृ० ९४)

बाद में वह ब्रह्मास्त्र को उत्तरा के गर्भ की दिशा में मोड़ देता है । इस पर व्यास उसे 'पशु' की संज्ञा देते हैं और कृष्ण उसे भ्रूणहत्या के दण्डस्वरूप जख्मी रहकर जीवित रहने का शाप ।

वह निर्भीक और स्पष्ट वक्ता है । कृष्ण की स्तुति होने पर वह कहता है—

'झूठे हैं ये स्तुति-वचन, ये प्रशंसा-वाक्य
कृष्ण ने किया है वही
मैंने किया था जो पांडव शिविर में
सोया हुआ या नशे में डूबा व्यक्ति
होता है एक सा
उसने नशे में डूबे अपने बन्धुजनों की
की है व्यापक हत्या । (पृष्ठ १२०)

वह गुणग्राही है। 'शत्रोरपि गुणा वाच्या दोषा वाच्या गुरोरपि'—उसकी नीति है। अपने शत्रु कृष्ण की भी वह प्रशंसा करता है—

'कायर मरण ?
मेरा था शत्रु वह
लेकिन कहूँगा मैं
दिव्य शान्ति छाई थी
उसके स्वर्ण-मस्तक पर !' (पृष्ठ १२७)

और अन्त में वह आत्मान्वेषी और आत्मदर्शी के रूप में प्रकट होता है जबकि वह अपने को अमानुषिक और मानव-भविष्य की रक्षा करने में अक्षम बताता है—

'किन्तु मैं हूँ अमानुषिक अर्द्ध सत्य
तर्क जिसका है घृणा और स्तर पशुओं का है।' (पृष्ठ १२५)
'मैं हूँ अमानुषिक ।' (पृष्ठ १२८)

कृष्ण—'अन्धा युग' नाटक में सर्वाधिक महत्वपूर्ण चरित्र कृष्ण का है समस्त कथा के सञ्चालक वे ही हैं। वे ही 'अन्धा युग' के नायक हैं। उनका चरित्र वैविध्यपूर्ण है। यद्यपि उन्हें कहने वालों ने कूटबुद्धि, अन्यायी, प्रभुता का दुरुपयोग-कर्त्ता एवं शत्रु आदि भी कहा तथापि वे हमारे सम्मुख शक्तिमान, नीतिज्ञ, कर्ममार्गी, शत्रु की ममता के पात्र, मर्यादा के रक्षक, गम्भीर, क्षमावान्, न्यायकारी, उत्तरदायी, दयालु, मानवता के रक्षक तथा अविकृत शान्त व्यक्तित्व-शाली के रूप में उपस्थित होते हैं। वे मरकर भी अमर हैं।

उन्हें बलराम 'कूटबुद्धि' कहते हैं—

जानता हूँ मैं तुमको शैशव से
रहे हो सदा से ही मर्यादाहीन कूटबुद्धि। (पृष्ठ ६१)

कूटबुद्धि कहने का कारण यह है कि उन्होंने भीम को अधर्म वार करने की प्रेरणा दी जिससे दुर्योधन परास्त हुआ। गान्धारी और अश्वत्थामा उन्हें 'अन्यायी' कहते हैं—

अन्यायी कृष्ण इसके बाद अश्वत्थामा को
जीवित नहीं छोड़ेंगे (पृष्ठ ८१)
'मैं था अकेला और अन्यायी कृष्ण पांडवों के सहित
मेरा वध करने को आतुर थे।' (पृ० ९३)

अन्यायी कहने का कारण है कि अकेले अश्वत्थामा को पाण्डवों के साथ मिलकर कृष्ण मारना चाहते थे। गान्धारी कृष्ण पर प्रभुता का दुरुपयोग करने का आरोप लगाती है—

कृष्ण सुनो !
तुम यदि चाहते तो रुक सकता था युद्ध यह
मैंने प्रसव नहीं किया था कंकाल वह
इंगित पर तुम्हारे ही भीम ने अधर्म किया
क्यों नहीं तुमने वह शाप दिया भीम को
जो तुमने दिया निरपराध अश्वत्थामा को
तुमने किया है प्रभुता का दुरुपयोग। (पृ० ९९)

इन सब आरोपों के बावजूद कृष्ण चरित्र उदात्त है, वे अपूर्व शक्तिशाली हैं। उनकी अनासक्त होकर इतिहास को चुनौती नक्षत्रों की दिशा बदलने वाली है। उनकी गति में ही सारे इतिहासों की दैवी गति समाहित है।

उनकी गति में ही
समाहित है सारे इतिहासों की,
सारे नक्षत्रों की दैवी गति।' (पृ० २४)

× × ×

पता नहीं
प्रभु हैं या नहीं
किन्तु, उस दिन यह सिद्ध हुआ
जब कोई भी मनुष्य
अनासक्त होकर चुनौती देता है इतिहास को
उस दिन नक्षत्रों की दिशा बदल जाती है। (पृ० २४)

वे नीतिज्ञ और कर्ममार्गी हैं। वे अर्जुन को तत्पर होकर कर्म करने का उपदेश देते हैं—

इसीलिए उसने कहा
अर्जुन
उठाओ शस्त्र
विगतज्वर युद्ध करो
निष्क्रियता नहीं
आचरण में ही
मानव-अस्तित्व की सार्थकता है। (पृ० ४१)

अपनी नीतिज्ञता से प्रेरित होकर ही वे बलराम का कहा मानते हैं और गान्धारी को समझाने जाते हैं। यद्यपि गान्धारी उन्हें परोक्ष में 'वंचक' कहती है—

जिसको तुम कहते हो प्रभु
उसने जब चाहा
मर्यादा को अपने ही हित में बदल लिया।
वंचक है। (पृ० २२)

परन्तु कृष्ण का व्यक्तित्व इतना आकर्षक है कि उस पर गान्धारी की भी ममता है।

गान्धारी के निम्नलिखित शब्द द्रष्टव्य हैं—

कोई नहीं मैं अपने
सौ पुत्रों के लिये
लेकिन कृष्ण तुम पर
मेरी ममता अगाध है। (पृ० १०१)

वे मर्यादा के रक्षक हैं। नाटक के प्रारम्भ में ही 'उद्घोषणा' नें उन्हें उलझी हुई मर्यादा को सुलझाने वाला बताया गया है। प्रेतात्मा वृद्ध याचक उनके रथ को इसी मर्यादा के कारण नहीं रोक पाता—

नहीं, उनमें सारे समय के प्रवाह की मर्यादा बंध जाती है
बाँध नहीं सकता हूँ उसको मैं ! (पृ० ७५)

क्रुद्ध गान्धारी से बात करते हुए भी वे मर्यादा का ख्याल रखते हैं। वे

कहते हैं—

प्रभु हूँ या परात्पर
पर पुत्र हूँ तुम्हारा
तुम माता हो ! (पृ० १०१)

वे परम गम्भीर हैं। गान्धारी के मुख से कटु शाप सुनकर उसे पी जाते हैं। समस्त वंश के समूल उन्मूलित होने का कड़वा शाप और उनकी यह गम्भीरता। वे मात्र यही कहते हैं—

माता प्रभु हूँ या परात्पर
पर पुत्र हूँ तुम्हारा
तुम माता हो !
... ...
शाप यह तुम्हारा स्वीकार है। (पृ० १०१)

वे क्षमा के भी भण्डार हैं। इसीलिए विदुर बारम्बार पुत्र शोक से जर्जर गान्धारी की उद्धत अनास्था को क्षमा करने के लिए कहते हैं (दे० पृष्ठ : २२) उत्तरा के गर्भ पर ब्रह्मास्त्र चला देने वाले अश्वत्थामा को वे केवल भ्रूणहत्या का शाप देकर छोड़ देते हैं—

छोड़ दिया
केवल भ्रूण हत्या का शाप
उसे दिया और
उससे मणि ले ली !

वे एक उत्तरदायी दयालु हैं। वे अपने ऊपर अनेकों के उत्तरदायित्व ले लेते हैं। अर्जुन, संजय और अश्वत्थामा सभी के लिए वे ही उत्तरदायी हैं—

मैंने अर्जुन से कहा
सारे तुम्हारे कर्मों का पाप-पुण्य, योग क्षेम मैं
वहन करूँगा अपने कंधों पर
अट्ठारह दिनों के इस भीषण संग्राम में
कोई नहीं केवल मैं ही मरा हूँ करोड़ों बार
जितनी बार जो भी सैनिक धराशायी हुआ

कोई नहीं था
वह मैं ही था
गिरता था घायल होकरजो रणभूमि में।
अश्वत्थामा के अंगों से
रक्त, पीप, स्वेद बन कर बहूँगा
मैं ही युग- युगान्तर तक
जीवन हूँ मैं
तो मृत्यु भी तो मैं ही हूँ माँ। (पृ० १००)

इसी प्रकार अश्वत्थामा द्वारा मारे गए वृद्ध को वे प्रेत कारा से अपने मरण द्वारा मुक्त करा देते हैं। वृद्ध कहता है—

मैं था भयभीत
किन्तु वे बोले—
'अश्वत्थामा ने किया था तुम्हारा वध
उसका था पाप, दण्ड मैं लूँगा
मेरा मरण तुमको मुक्त करेगा प्रेतकारा से। (पृ० १२६)

कृष्ण मानवता के रक्षक हैं। उत्तरा के गर्भ पर अश्वत्थामा द्वारा चलाए गए ब्रह्मास्त्र को वे अपने ऊपर ले लेते हैं।

बोले वे
यदि यह ब्रह्मास्त्र गिरता है तो गिरे
लेकिन जो मुर्दा शिशु होगा उत्पन्न
उसे जीवित करूँगा मैं देकर अपना जीवन (पृ० ९६)

और अन्त में वे अविकृत शान्त व्यक्तित्वशाली होकर हमारे सामने आते हैं। उनका कंचन जैसा माथा, नीलकमल की पाँखुरियों-सी पलकें और शान्त मुद्रा—ये सभी को आकर्षक लगती हैं। व्याध, जिसने उन्हें मारा है, उनकी प्रशंसा करता है और जीवन भर उनका निन्दक अश्वत्थामा भी कहता है—

दिव्य शान्ति छाई थी
उनके स्वर्ण मस्तक पर! (पृ० १२७)

मरते-मरते वे जो संदेश देकर जाते हैं वह जगत का कल्याण करने वाला है—

बोले वे—
'मेरा दायित्व वह स्थित रहेगा
हर मानव मन के उस वृत्त में
जिसके सहारे वह
सभी परिस्थितियों का अतिक्रमण करते हुए
नूतन निर्माण करेगा पिछले ध्वंसों पर !
मर्यादायुक्त आचरण में
नित्य नूतन सृजन में
निर्ममता के
साहस के
ममता के
रस के
क्षण में
जीवित और सक्रिय हो उठूँगा मैं बार बार!'(पृ० १२७-२८)

वृद्ध याचक

वृद्ध याचक का आधा रूप प्रख्यात है और आधा कल्पित । लेखक ने अपने दृष्टिकोण का प्रकाशन करने के निमित्त याचक भविष्य की कल्पना की है । अन्त में उसका नाम 'जरा' रख दिया है जो भागवत से मेल खाता है । यद्यपि यह एक विशुद्ध प्रतीकात्मक पात्र है फिर भी उसके प्रतीकत्व को त्याग कर उसका चित्रण किया जा सकता है ।

याचक उन्नत ललाट, श्वेतकेशी और आजानुबाहु ज्योतिषी है, जिसकी ज्योतिष मिथ्या सिद्ध होती है, किन्तु वह झूठी सिद्ध हुई अपनी भविष्यवाणी को सच्ची सिद्ध करने की तरकीब जानता है। 'कभी वह 'नियति नहीं है पूर्व निर्धारित । उसको हर क्षण मानव बनाता-मिटाता है'—कहकर छुटकारा पाता है और कभी अपने को झूठा भविष्य कहकर दुर्योधन और गान्धारी की जय बोलता चला जाता है । अश्वत्थामा को देखकर वह उसकी जय बोल देता है ;

पराजित दुर्योधन की भी जय बोल देता है। वह धीरे-धीरे भविष्य की अनिवार्यता को मिथ्या समझकर वर्तमान के सत्य की प्रतिष्ठा करने लगता है—

झूठी थी सारी अनिवार्यता भविष्य की।
केवल कर्म सत्य है
मानव जो करता है, इसी समय
उसी में निहित है भविष्य
युग-युग तक का ! (पृ० ४०)

वह अश्वत्थामा के क्रोध का भाजन होकर मारा जाता है और प्रेतात्मा बन जाता है। अब वह एक चिन्तक के रूप में उपस्थित होता है जो कि युग-दर्शन प्रस्तुत करता है। वह प्रत्येक पात्र की आन्तरिक असंगति समझना चाहता है। इसके लिए वह मंत्र-शक्ति का प्रयोग करता है। अन्त में वह कृष्ण के वधकर्त्ता के रूप में उपस्थित होता है। वह कृष्ण के पैर को मृग-मुख समझकर बाण मार देता है। बाण मारकर वह पश्चात्ताप-ग्रस्त होता है किन्तु कृष्ण उसे क्षमा कर देते हैं। वह उनके प्रति कृतज्ञ है श्रीकृष्ण के संदेश को वह सबके सम्मुख प्रस्तुत करता है। वह निष्क्रिय, अमानुषिक और आत्मघातियों से मानव-भविष्य को बचाने की प्रार्थना करता है। किन्तु इन लोगों के हाथ में मानव-भविष्य की सुरक्षा की गारण्टी न देखकर उसका स्वर संशयग्रस्त हो उठता है और वह कह उठता है—

वे हैं निराश
और अन्धे
और निष्क्रिय
और अर्द्ध पशु
और अंधियारा गहरा और गहरा होता जाता है !
क्या कोई सुनेगा ?
जो अन्धा नहीं है, विकृत नहीं है और
मानव भविष्य को बचाएगा ?
मैं हूँ जरा नामक व्याध
और रूपान्तरण यह हुआ मेरे माध्यम से

मैंने सुने हैं ये अन्तिम वचन
मरणासन्न ईश्वर के
जिसको मैं दोनों बाँहें उठाकर दुहराता हूँ
कोई सुनेगा ?
क्या कोई सुनेगा ?
क्या कोई सुनेगा········ (पृ० १२८-२९)

प्रहरी-युग्म—दोनों प्रहरी कल्पित पात्र हैं। इनके माध्यम से लेखक ने दासवृत्ति-ग्रस्त जनता की मनोवृत्ति की अभिव्यक्ति की है। इनका व्यक्तित्व घिसा-पिटा है। चक्कर काटना इनका काम है। कोई जिम्मेदारी या प्रतिष्ठा का काम इनको मिलता नहीं। ये थक चुके हैं।

मेहनत हमारी निरर्थक थी
आस्था का,
साहस का,
श्रम का,
अस्तित्व का हमारे
कुछ अर्थ नहीं था
कुछ भी अर्थ नहीं था। (पृ० १३)

वे अपने राजा के भविष्य के विषय में चिन्तित हैं जो उन्हें अच्छा दिखाई नहीं देता। वे शंकाकुल हैं—

अपशकुन है
भयानक यह।
पता नहीं क्या होगा
कल तक
इस नगरी में। (पृ० १५)

वे अपने राजा के अविवेक के आलोचक भी हैं। उसके अन्धेपन पर कटाक्ष करते हुए वे कहते हैं—

देखेंगे कैसे वे ?
अन्धे हैं।

कुछ भी क्या देख सके
अब तक
वे ? (पृ० १५)

वे उस शासन से निराश हो चुके हैं जिसमें उन्हें निरुद्देश्य ही चलना पड़ा है न उनकी मर्यादा है, न आस्था, न निर्णय, न मत। अन्धे शासन में उनका सूना जीवन बीत गया है। वे कुण्ठित हो गए हैं :

मर्यादा !
अनास्था !
पुत्र शोक !
भविष्यत् !
ये सब
राजाओं के जीवन की शोभा है।
वे जिनको ये सब प्रभु कहते हैं
इस सबको अपने ही जिम्मे ही ले लेते हैं
पर यह जो हम दोनों का जीवन
सुने गलियारे में बीत गया
कौन इसे
अपने जिम्मे लेगा ?
हमने मर्यादा का अतिक्रमण नहीं किया
क्योंकि नहीं थी अपनी कोई मर्यादा
हमको अनास्था ने कभी नहीं झकझोरा
क्योंकि नहीं थी अपनी कोई भी गहन आस्था।
हमने नहीं झेला शोक
जाना नहीं कोई दर्द
सूने गलियारे सा सूना यह जीवन बीत गया
क्योंकि हम दास थे।
केवल वहन करते थे आज्ञाएँ अन्धे राजा की
नहीं था हमारा कोई खुद का मत

कोई अपना निर्णय
इसीलिए सूने गलियारे में
निरुद्देश्य
चलते हम रहे सदा
दाएँ से बाएँ
और बाएँ से दाएँ
मरने के बाद भी
यम के गलियारे में
चलते रहेंगे सदा
दाएँ से बाएँ
और बाएँ से दाएँ ।

प्रहरी आज की त्रस्त जनता का प्रतिनिधित्व करते हैं जिनको कर्त्तव्य से अधिक अपने जीवन की चिन्ता है । अफवाह फैलाने में और उसको स्वीकार करने में वे दक्ष हैं । ययुत्सु के आने पर उसके गृद्ध रूप का वे विश्वास कर लेते हैं और उसका प्रचार भी करते हैं । जब वह उनकी ओर आता है तो भय से छिप जाते हैं, उसका मुकाबला नहीं कर पाते ।

अन्त में वे जागरूक विद्रोही जनता के रूप में उपस्थित होते हैं जो कि रोटी कपड़ा चाहती है; अस्त्रों के प्रयोग से व्याकुल है और जो एक सुदृढ़ नायक की अभिलाषा रखती है ।

हम जैसे पहले थे
वैसे ही अब भी हैं
शासक बदले
स्थितियाँ बिल्कुल वैसी हैं ।
इससे तो पहले के ही शासक अच्छे थे
अन्धे थे
लेकिन वे शासन तो करते थे

ये तो सन्त ज्ञानी हैं
शासन करेंगे क्या ?
जानते नहीं हैं ये प्रकृति प्रजाओं की
ज्ञान और मर्यादा
उनका करें क्या हम ?
उनको क्या पीसेंगे ?
या उनको खायेंगे ?
या उनको ओढ़ेंगे ?
या उन्हें बिछायेंगे ?
हमको तो अन्न मिले
निश्चित आदेश मिले
एक सुदृढ़ गायक मिले
अन्धे आदेश मिलें
नाम उन्हें चाहे हम युद्ध दें या शान्ति दें।
जानते नहीं हैं ये प्रकृति प्रजाओं की। (पृ० १०७-८)

गान्धारी—गान्धारी घोर यथार्थ की प्रतिमूर्त्ति, सत्ता-लोलुप, कटु सत्य-वादिनी, आक्रामक व्यक्तित्वशालिनी तथा क्रूर चित्त वाली है। पहले तो वह धर्म की पक्षपातिनी है किन्तु धर्म के अभाव में वह अधर्मी को अधर्म से जीतना चाहती है। वह निर्भीकता के साथ कृष्ण की आलोचना करती है और उनको मर्यादा का ओटक बताती है। वह झूठे आडम्बर से घृणा करती है और जान बूझकर अपनी आँखों पर पट्टी बाँध लेती है। उसका यह कथन द्रष्टव्य है—

लेकिन अन्धी नहीं थी मैं।
मैंने यह बाहर का वस्तु-जगत अच्छी तरह जाना था
धर्म, नीति, मर्यादा, यह सब है केवल आडम्बर मात्र,
मैंने यह बार-बार देखा था
निर्णय के क्षण में विवेक और मर्यादा
व्यर्थ सिद्ध होते आये हैं सदा
हम सब के मन में एक अन्ध गह्वर है।

बर्बर पशु, अन्धा पशु वास वहीं करता है,
स्वामी जो हमारे विवेक का,
नैतिकता, मर्यादा, अनासक्ति, कृष्णार्पण
यह सब हैं अन्धी प्रवृत्तियों की पोशाकें
जिनमें कटे कपड़ों की आँखें सिली रहती हैं
मुझको इस झूठे आडम्बर से नफ़रत थी
इसीलिए स्वेच्छा से मैंने इन आँखों पर पट्टी चढ़ा रक्खी थी
(पृ० २१)

वह पुत्र शोक से जर्जर माता है और विदुर से माता शब्द सुनते ही उसकी छाती में शूल उठने लगता है। यह शब्द जलते हुए लोहे की सलाखों सा उसकी पसलियों में धँस जाता है। १७ दिन के अन्दर उसके सब पुत्र एक एक कर मारे गए। उसने अपने ही हाथों से फूल सी वधुओं की चूड़ियाँ उतारी हैं और अपने आँचल से सेन्दुर की रेखाएँ पोंछी हैं। वह दुर्योधन की जय सुनकर याचक को अँजलि भर मुद्राएँ दिलवा देती है और अपनी अन्धी आशा से प्रेरित होकर सोचती है कि दुर्योधन अवश्य जीतेगा।

गान्धारी व्यंग्यवादिनी है। अपने पुत्र युयुत्सु को पाण्डवों की तरफ से लड़कर लौटकर आने पर वह व्यंजना से उसे लताड़ती है। जब विदुर गान्धारी से उसके चरण स्पर्श करते हुए युयुत्सु को आशीष : देने के लिए कहते हैं तो वह क्षण भर मौन रह कर उपेक्षा से कहती है—

पूछो विदुर इससे
कुशल से है ?
वेटा,
भुजाएँ ये तुम्हारी
पराक्रम भरी
थकी तो नहीं
अपने बन्धुजनों का
वध करते करते ?
पांडव के शिविरों के वैभव के बाद

तुम्हें अपना नगर तो
श्रीहत-सा लगता होगा ?
चुप क्यों हो ?
थका हुआ होगा यह
विदुर इसे फूलों की शय्या दो
कोई पराजित दुर्योधन नहीं है यह
सोये जो जाकर
सरोवर की कीचड़ में।
चुप क्यों है विदुर यह ?
क्या मैं माता हूँ
इसके शत्रुओं की
इसीलिये ? (पृ० ५५-५६)

वह बड़ी कठोर चित्त वाली है। अश्वत्थामा के नर-संहार की कथा का वह बिना विचलित हुए श्रवण करती है। विदुर 'बस करने' कहता है और गाँधारी 'फिर क्या हुआ ?' कहती हुई चली जाती है। वह बर्बर अश्वत्थामा को वीर की संज्ञा देकर उसे देखना चाहती है। वह अश्वत्थामा को अपनी दृष्टि से वज्र बता देना चाहती है :—

कठोर होते हुए भी वह मातृत्व की प्रतिमूर्त्ति है मरणोन्मुख दुर्योधन को वह किसी भी तरह नहीं देख पाती। जो दुर्योधन का पक्ष लेता है उसको वह सम्मान देती है। इसी लिए अश्वत्थामा को वह वज्रमूर्त्ति बना देती है जिससे कृष्ण भी उसे न मार सकें। अपने पुत्र का कंकाल देखकर उसका हृदय फट जाता है और उसकी दुखी आत्मा से कृष्ण के लिए भयंकर शाप निकलता है। यद्यपि बाद में वह पश्चाताप करती है किन्तु एक बार तो कृष्ण को शाप दे ही देती है—बड़ा कठोर, बड़ा भयंकर, बड़ा दारुण।

इस शाप के पश्चाताप से ही वह घुलती है। अपने इस शाप की प्रथम समिधा वह अपने को समझती है और दावानल में भस्म होकर मर जाती है।

विदुर—विदुर का चरित्र एक गांधीवादी चरित्र है जो क्रुद्ध व्यक्ति को शान्त करने की चेष्टा करता है और यथा-सम्भव सत्य का आश्रय लेकर सभी

को प्रबोध देने का प्रयत्न करता है। धृतराष्ट्र को वह सत्य का पथ लेते हुए समझाता है—

भीष्म ने कहा था,
गुरु द्रोण ने कहा था,
इसी अन्तःपुर में
आकर कृष्ण ने कहा था—
'मर्यादा मत तोड़ो
तोड़ी हुई मर्यादा
कुचले हुए अजगर सी
गुंजलिका में कौरव-वंश को लपेट कर
सूखी लकड़ी सा तोड़ डालेगी।' (पृ० १७)

वह कृष्ण का अनुगामी, भक्त और नीतिज्ञ है किन्तु उसकी नीति साधारण स्तर की है जबकि युग की सारी स्थितियाँ असाधारण हैं। एक बार तो प्रभु के प्रति भी उसका आस्था-मंडल डोल जाता है। उसका हृदय कोमल है। जब संजय गान्धारी को अश्वत्थामा की नृशंसता का समाचार देता है तब वह उसे बस करने को कहता है। जब गूँगा सैनिक युयुत्सु पर पत्थर फेंक मारता है तो उसके दिल से आह निकलती है। मरणासन्न आत्मघाती युयुत्सु की रक्षा और परिचर्या करने के लिए भी वह प्रस्तुत हो जाता है। वह आत्मघात के विरुद्ध है।

वस्तुतः विदुर गाँधी की राजनीति का सच्चा आदर्श है जिसके सिक्के आज खोटे हो गए हैं और जिसके आदर्शों की धुरी बिना पहियों के निष्क्रिय पड़ी है।

धृतराष्ट्र— धृतराष्ट्र अन्धा और पंगु शासक है। सबसे पहले आशंकाग्रस्त धृतराष्ट्र ही हमारे सम्मुख आता है, वह चिन्ताग्रस्त है। वह अपने पुत्रों का पक्षपाती है और कौरवों को ही अन्तिम सत्य समझता है। इसका संसार इसके अन्धेपन से उपजा है। जो उसने अपने वैयक्तिक सम्वेदन से जाना वही उसके लिए वस्तु जगत था लेकिन कौरवों के नाश पर उसे भान हुआ कि उसके वैयक्तिक सीमाओं के बाहर भी सत्य है। वह भयाक्रान्त है और उसका कोई अपना

व्यक्तित्व नहीं है। गरजती हुई गान्धारी को वह शान्त कहता ही रह जाता है लेकिन वह शान्त नहीं हो पाती। वह निकम्मा राजा है जिसके सिंहासन पर बैठने पर अनेक अन्याय होते हैं जिनको वह रोक नहीं पाता।

युधिष्ठिर—युधिष्ठिर एक असफल शासक है जो न तो दया के मार्ग पर ही चल पाता है, न सत्य का ही आश्रय ले सकता है और न ही दण्ड का आश्रय ले सकता है। उसका न तो अपने कुटुम्ब पर ही काबू है और न ही सेवक (जनता) इसके भक्त हैं। भीम का नृशंस अत्याचार और प्रहरियों की कटूक्तियाँ इसका प्रमाण है। वह सत्ता को पा अवश्य लेता है, निभा नहीं पाता।

कृपाचार्य और कृतवर्मा—कृपाचार्य अश्वत्थामा का मामा है और कृतवर्मा एक सेनानी। ये दोनों कौरव वंश की तरफ से लड़ते हैं। कौरव-वाहिनी अन्ततः यही बनते हैं जिनका सेनापति अश्वत्थामा बनता है। कृतवर्मा व्यंग्योक्ति का पंडित है और कृपाचार्य निर्भीकता का आश्रय है। क्रुद्ध अश्वत्थामा को वह डाँट सकता है। युयुत्सु के हत्यारे को वह मारने को तैयार हो जाता है। ये दोनों चरित्र अश्वत्थामा के चरित्र को पुष्ट करने में सहायक हैं और युद्ध से ऊबे हुए सैनिकों की प्रवृत्ति का परिचय देते हैं।

संजय—संजय भी एक महत्त्वशाली पात्र है। उसको वरदान मिला हुआ है कि वह अमर रहेगा और अपनी दिव्य दृष्टि से तटस्थ होकर सब कुछ देखेगा।

वह अन्धे राजा से सत्यकथन करता है किन्तु अन्धों को सत्य दिखाने के चक्कर में वह स्वयं दिव्य दृष्टि खो बैठता है। वह भी मोह-निशा में भटक जाता है।

वह शब्दों का शिल्पी है जिसका दायित्व गहन है किन्तु भाषा अपूर्ण है और श्रोता अन्धे हैं। वह धृतराष्ट्र और गान्धारी को युद्ध का समाचार देता है किन्तु पूर्ण सत्य-कथन नहीं कर पाता। इसी कारण वह अपनी अवध्यता पर खिन्न है। उसे कटु सत्य कहने के लिए जीना है—पर लगता है जैसे वह अपने व्रत को निभा नहीं पायेगा। उसका स्वर संशयग्रस्त है—

'कैसे दे पाऊँगा मैं सम्पूर्ण सत्य
उन्हें बिकृत अनुभूति से ?' (पृ० ३१)

जब अश्वत्थामा उसे मारने के लिए पकड़ लेता है तो वह मुक्ति का अनुभव करता है। अपने दायित्व से वह परेशान है—

'जाकर अन्धों से
सत्य कहने की
मर्मान्तिक पीड़ा है जो
उससे तो वध ज्यादा सुखमय है
वध करके
मुक्त मुझे कर दो
अश्वत्थामा !' (पृ० ३८)

उसका कर्त्तव्य बड़ा विचित्र और कठिन है। उसे सत्य कहना है, समाचार देना है—भले ही उसका कुछ प्रभाव हो या न हो। बिना सत्य कहे उसका गुजारा नहीं।

'मैं संजय हूँ
जो कर्मलोक से बहिष्कृत है
मैं दो बड़े पहियों के बीच लगा हुआ
एक छोटा निरर्थक शोभा चक्र हूँ
जो बड़े पहियों के साथ घूमता है
पर रथ को आगे नहीं बढ़ाता
और न धरती ही छू पाता है !
और जिसके जीवन का सबसे बड़ा दुर्भाग्य यह है
कि वह धुरी से उतर भी नहीं सकता !' (पृ० ७४)

वह माता और पिता को पुत्र-मरण जैसा दारुण समाचार सुनाता है; साथ ही अश्वत्थामा के नृशंस कार्यों का वर्णन करके गान्धारी के चित्त को थोड़ी शान्ति देता है। जिस प्रकार रहस्यवादी निरपेक्ष होकर रचना करता है और यथार्थ में नहीं उतर पाता और ना ही वह मानव मूल्य को अपने निकट पा सकता है उसी प्रकार संजय भी—

'जीवन भर रहा मैं निरपेक्ष सत्य
कर्मों में उतरा नहीं
धीरे-धीरे खो दी दिव्य दृष्टि।' (पृ० १२१)

युयुत्सु—युयुत्सु सबसे दयनीय चरित्र है। वह धृतराष्ट्र का पुत्र है किन्तु सत्य का पक्ष लेकर वह पाण्डवों की ओर से लड़ता है जिसके लिए उसे अपनी माता सहित सभी पक्ष वालों से उपेक्षा सहनी पड़ती है। वह ऐसा अपराधी है जो सत्य का आश्रय लेने के कारण दण्डित होता है।

मेरा अपराध सिर्फ इतना है
सत्य पर रहा मैं दृढ़
द्रोण, भीष्म
सबके सब महारथी
नहीं जा सके
दुर्योधन के विरुद्ध
फिर भी मैंने कहा
पक्ष मैं असत्य का नहीं लूँगा
मैं भी हूँ कौरव
पर सत्य बड़ा है कौरव वंश से। (पृ० ५३)

वह कहता है—

मैं भी
सह लेता यदि
सब उच्छृंखलता दुर्योधन की
आज मुझे इतनी घृणा तो
न मिलती
अपने ही परिवार में (पृ० ५३)

उसके सत्य-पथ पर चलने की यह विडम्बना है कि नागरिक उसे देखकर पट बन्द कर लेते हैं। उसे मायावी, शिशुभक्षी, दैत्याकार और गृद्धवत बताते हैं। और तो और, उसकी माता उसके चरण छूने का उत्तर व्यंग्योक्तियों में देकर उसे व्यथित कर देती है। इस व्यवहार से खिन्न होकर वह अपने अतीत

सत्य के प्रति अनास्थावान् हो उठता है और कहता है—

अच्छा था यदि मैं
कर लेता समझौता असत्य से। (पृ० ५६)

विदुर जब उसे समझाते हैं कि असत्य से समझौता समस्या का समाधान नहीं था बल्कि अन्दर से जर्जर करने वाला होता तो वह सत्य और असत्य दोनों की ही परिणति को तुल्यबल घोषित करता है।

अन्तिम परिणति में
दोनों जर्जर करते हैं
पक्ष चाहे सत्य का हो
अथवा असत्य का। (पृ० ५७)

यदि वह किसी को स्नेह भी देता है तो वह स्वीकार्य नहीं होता। जब वह गूँगे को पानी पिलाता है और वह गूँगा जिसके कि उसने युद्ध के समय बाणों से घुटने काट दिए थे चीख कर गिरता-पड़ता भागता है तो वह अपने पर क्षुब्ध हो उठता है—

मेरी यह परिणति है
स्नेह भी अगर मैं दूँ
तो वह स्वीकार नहीं औरों को
व्यास ने कहा
मुझसे
कृष्ण जिधर होंगे
जय भी उधर होगी।
जय है यह कृष्ण की
जिसमें मैं वधिक हूँ
मातृ वंचित हूँ
सबकी घृणा का पात्र हूँ (पृ० ५८-५६)

धीरे धीरे वह सत्य पथ को कष्टदायक समझकर छोड़ने लगता है। और भीम से बार बार अपमानित होकर, भिखमंगे से पत्थर खाकर भाले से आत्म-हत्या कर लेता है। इस प्रकार वह महलों में होने वाले अपमान से, बाहर

प्रजाओं के द्वारा मिले हुए तानों से, भिखमंगों, लंगड़े, लूलों और गन्दे बच्चों की भीड़ से मिलने वाले अपशब्दों से छुटकारा पाने के लिए एक घृणास्पद सोपान पर चरण रखता है।

जहाँ जीवित अवस्था में वह अपने सत्यपथ से उतर कर यह कहता है—

मैं हूँ युयुत्सु
मैं उस पहिए की तरह हूँ
जो पूरे युद्ध के दौरान में रथ में लगा रहा
और जिसे अब लगता है कि वह गलत धुरी में लगा था
और मैं अपनी उस धुरी से उतर गया हूँ ! (पृ० ७४)

वहाँ दूसरी ओर मरने के अनन्तर वह और भी अनास्थावान् हो उठता है।

आस्था नामक यह घिसा हुआ सिक्का
अब मिला अश्वत्थामा को
जिसे नकली और खोटा समझकर मैं
कूड़े पर फेंक चुका हूँ वर्षों पहले ! (पृ० १२३-२४)

जब वह कृष्ण का महिमामय मरण देखने आता है तब भी उसकी अनास्था विलुप्त नहीं होती—

जीकर वह जीत नहीं पाया अनास्था को
मरने का नाटक रचकर वह चाहता है
बांधना हमको।
लेकिन मैं कहता हूँ
वचंक था, कायर था, शक्तिहीन था वह
बचा नहीं पाया परीक्षित को या मुझको
चला गया अपने लोक (पृ० १२४)

यद्यपि वह मानव-भविष्य के प्रति चिन्तित है किन्तु अनास्थावान होने के कारण मानव-भविष्य को बचाने का साधन उसके पास कोई नहीं है क्योंकि 'वह है आत्मघाती अन्ध' (पृ० १२८)

इन पात्रों के अतिरिक्त गूँगा भिखारी, व्यास और बलराम भी 'अन्धा युग' की कथा में योग देते हैं। इनमें **गूँगा भिखारी** युद्ध की विभीषिका से संत्रस्त विकलांग है जो नीच तरीकों से प्रतिशोध चाहता है, **व्यास** मानवता के सुखकामी हैं और **बलराम** निर्भीक निष्पक्ष व्यक्ति हैं।

: ५ :

अन्धा युग में संवाद

नाटकीय संवादों के गुणों का विवेचन करते हुए डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल ने कहा है—'अरस्तू ने ड्रामा का एक तत्त्व 'भाषा' बताया है। वे शब्द जो पात्रों के रूप में मञ्च पर अभिनेता बोलता है। यह वह माध्यम है, जिसके द्वारा पात्र अपने विचार और अन्ततः नाटक के विचार दर्शक तक सम्प्रेषित करते हैं।'

नाटक की भाषा सीधी और सरल होती है, जो तुरन्त अपने अर्थ के साथ दर्शक की समझ में आ जाय। नाटक, उपन्यास या कविता-पुस्तक नहीं है कि उसकी व्याख्या के अर्थ समझने के लिए दर्शक रंग भवन में बैठकर नाटक के पृष्ठ उलटकर देख सके। यह सम्भव ही नहीं।

भाषा कथोपकथन के ही रूप में नाटक में मूलतः व्यवहृत होती है। फलतः स्पष्टता, सीधेपन के अतिरिक्त इसे मनोरंजक होना आवश्यक है। वरना दर्शक के लिए रुचिकर ही न हो सकेगा। भाषा को जीवन और चरित्र की आत्मा को पकड़कर चलना होता है।

भाषा-प्रयोग के लिए नाटककार को कवि की दृष्टि चाहिए। वही गति, वही पैठ। ('रंगमंच और नाटक की भूमिका', पृ० ११६-१२०)

इस प्रकार संवादों में देखने की बात यह है कि वे सरल हों, अवसरानुकूल हों, गतिशील हों, प्रभावशाली हों, मनोरंजक हों, व्यंजनापूर्ण हों तथा पात्रों के चरित्र पर प्रकाश डालने वाले हों। 'अंधा युग' के संवाद ऐसे ही हैं।

इसके संवादों की भाषा प्रायः सरल है। कोई कूट शब्द इनमें प्रयुक्त नहीं है। प्रसाद गुण सर्वत्र विद्यमान है। लम्बे-लम्बे समास कहीं नहीं हैं। यथा—

प्रहरी १. थके हुए हैं हम,
पर घूम घूम कर पहरा देते हैं
इस सूने गलियारे में

प्रहरी २. सूने गलियारे में
जिसके इन रत्न-जड़ित फर्शों पर
कौरव-वधुएँ
मन्थर-मन्थर गति से
सुरभित पवन-तरङ्गों सी चलती थीं
आज वे विधवा हैं ! (पृ० १२)

सभी संवाद अवसरानुकूल हैं। भारती का संवाद कोई नहीं। गीता के उपदेश भी जहाँ आये हैं—वे घुले-मिले अवसरोपयोगी प्रतीत होते हैं। पात्र उतनी ही बात कहता है जितनी आवश्यक है। एक उदाहरण मर्यादा है—

विदुर. यह जो पीड़ा ने
पराजय ने
दिया है ज्ञान,
दृढ़ता ही देगा वह।
धृतराष्ट्र. किन्तु, इस ज्ञान ने
भय ही दिया है विदुर।
जीवन में प्रथम बार
आज मुझे आशङ्का व्यापी है।
विदुर. भय है तो
ज्ञान है अधूरा है अभी।
प्रभु ने कहा था यह…
'ज्ञान जो समर्पित नहीं है
अधूरा है
मनोबुद्धि तुम अर्पित करदो
मुझे।
भय से मुक्त होकर
तुम प्राप्त मुझे ही होगे
इसमें सन्देह नहीं।' (पृ० १९-२०)

यहाँ गीता के श्लोक—

'मय्येव मन अधित्स्व मपि बुद्धि निवेशय
निवसिष्यसि मय्येव अत उर्ध्वं न संशयः ।।

के भाव का बड़ा अवसरानुकूल प्रयोग है, क्योंकि इसी से गान्धारी की यह महत्त्वपूर्ण टिप्पणी उत्पन्न होती है—

गान्धारी (आवेश से)
'इसमें सन्देह है
और किसी को मत हो
मुझको है ।
'अर्पित कर दो मुझको मनोबुद्धि
उसने कहा है यह
जिसने पितामह के बाणों से
आहत हो
अपनी सारी ही
मनोबुद्धि खो दी थी ?
उसने कहा है यह,
जिसने मर्यादा को तोड़ा है बार-बार ।' (पृ० २०)

गतिशीलता तो 'अंधा युग' के संवादों का सर्वसंवेद्य गुण है । इसके संवाद बड़ी फुर्ती से चलते हैं, बढ़ते हैं, दौड़ते हैं—मुक्त छन्द के माध्यम से । जैसे नहले पर दहला पड़ता हो—ऐसे ही उत्तर-प्रत्युत्तर होते हैं—

प्रहरी १. जानते नहीं हैं ये प्रकृति प्रजाओं की
प्रहरी २. ज्ञान और मर्यादा
प्रहरी १. उनका क्या करें हम ?
प्रहरी २. उनको क्या पीसेंगे ?
प्रहरी १. या उनको खायेंगे ?
प्रहरी २. या उनको ओढेंगे ?
प्रहरी १. या उन्हें बिछायेंगे ?

प्रहरी २. हमको तो अन्न मिले
प्रहरी १. निश्चित आदेश मिले (पृ० १०७-१०८)

'अन्धा युग' के संवादों की प्रभावात्मकता अपर गुण है। उदाहरणार्थ—वृद्ध याचक की बोली में ऐसा प्रभाव है कि दर्शक और श्रोता स्तब्ध रह जाये—

'मानव जो करता है, इसी समय
उसी में निहित है भविष्य
युग-युग तक का!' (पृ० ४०)
'हर क्षण इतिहास बदलने का क्षण होता है।' (पृ० ४२)

मनोरंजकता तथा व्यञ्जना भी इन संवादों में व्याप्त है। प्रहरियों का वार्त्तालाप तो प्रायः सारा का सारा व्यञ्जनापूर्ण है यथा—

प्रहरी १. कौन है?
विदुर मैं हूँ
विदुर
देखा धृतराष्ट्र ने?
देखा यह भयानक दृश्य?
प्रहरी १. देखेंगे कैसे वे?
अन्धे हैं।
कुछ भी क्या देख सके
अब तक
वे?

इसी प्रकार गान्धारी का युयुत्सु के विषय में कथन और युयुत्सु का धृतराष्ट्र से वार्त्तालाप बड़ा व्यञ्जनापूर्ण है—

विदुर माता
ये हैं युयुत्सु
चरण छू रहे हैं
इनको आशीष दो।
गान्धारी (क्षण भर चुप रहकर उपेक्षा से)
पूछो विदुर इससे

कुशल से है ?
(युयुत्सु और विदुर चुप रहते हैं)
बेटा,
भुजाएँ ये तुम्हारी
पराक्रम भरी
थकी तो नहीं
अपने बन्धु जनों का
वध करते-करते ?
(चुप)
पाण्डव के शिविरों के वैभव के बाद
तुम्हें अपना नगर तो
श्रीहत-सा लगता होगा ?
(चुप)
चुप क्यों हो ?
थका हुआ होगा यह
विदुर इसे फूलों की शय्या दो
कोई पराजित दुर्योधन नहीं है यह
सोये जो जाकर
सरोवर की
कीचड़ में
(चुप)
चुप क्यों है विदुर यह ?
क्या मैं माता हूँ
इसके शत्रुओं की
इसीलिए ? (पृ० ५५-५६)

गान्धारी के इन संवादों में मातृ-हृदय की मार्मिक व्यथा व्यंजित है। जिसके सौ पुत्र क्रमशः एक-एक करके युद्ध में मारे गये, उसी का एक पुत्र, जिसने अपने वंश को छोड़कर पाण्डवों का साथ दिया, उसके सामने है। जिसने

अपने ही बन्धुओं का वध किया, उसके प्रति गान्धारी के 'भुजाएँ ये तुम्हारी पराक्रम-भरी थकीं तो नहीं अपने बन्धुजनों का वध करते-करते' शब्दों में व्यंग्य होगा ही। यहाँ सभी शब्दों में सुन्दर व्यंजना का समावेश हुआ है।

इसी प्रकार धृतराष्ट्र और युयुत्सु का वार्तालाप दर्शनीय है—

धृतराष्ट्र वत्स, तुम मेरी आयु लेकर भी
जीवित रहो
अश्वत्थामा का ब्रह्मास्त्र
यदि गिरा है उत्तरा पर
तो कौन जाने एक दिन युधिष्ठिर
सब राजपाट तुमको ही सौंप दें !

युयुत्सु (कटु हँसी हँस कर)
और इस तरह
अश्वत्थामा की पशुता
मेरा खोया हुआ भाग्य लौटा लाये !
नहीं, पिता नहीं
इतना ही दंशन क्या काफी नहीं है इस अभागे को

(पृ० ९५-९६)

'अन्धायुग' के संवादों की भाषा पात्रों के व्यक्तित्व को प्रस्तुत करती है। अश्वत्थामा के संवाद किसी के भी मन में उसके व्यक्तित्व की मूर्ति खींच सकते हैं, विदुर और संजय की भाषा उनके व्यक्तित्व का स्पष्ट परिचय देती है।

इस प्रकार 'अन्धायुग' के संवाद पूर्ण नाटकीय और उपयुक्त हैं।

: ६ :

अन्धा युग में रस

प्राचीन परम्परा में रस को काव्य की आत्मा कहा गया है। क्या दृश्य और क्या श्रव्य—सभी काव्यों में रसाभिव्यक्ति ही परम काम्य मानी गयी है। यद्यपि आज के प्रतिक्रियावादी लेखक रस की खिल्लियाँ उड़ाते हैं और उसे मान्यता नहीं देते किन्तु डॉ० भारती रसानुभूति और सौन्दर्यबोध के उपासक हैं। उनके शब्दों में—'रसानुभूति और सौन्दर्यबोध उसके (साहित्यकार के) माध्यम हैं, और युग, काल एवं स्थितियों के अनुसार जैसी भी जटिलताएँ होती हैं, वैसी ही सूक्ष्म तथा अप्रत्यक्ष रीति से वह अपना कार्य करता है।' (मानव-मूल्य और साहित्य, पृ० १५३) वे रसानुभूति से रहित कला को निष्फल मानते हैं—"...और बहुत से कलाकार ऐसे भी होते हैं जिनके घोषित विचार अत्यन्त कल्याणकारी होते हैं। अपनी कला में वे उन्हीं को प्रतिष्ठित भी करते हैं, किन्तु कहीं न कहीं रसानुभूति और सौन्दर्यबोध का आश्रय उनसे छूट जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि उनकी कला जन-मन में गहरी उतर कर वृत्तियों को संस्कार नहीं प्रदान कर पाती और इसी प्रकार दूसरे ढंग से वह निष्फल सिद्ध होती है।' (वही पृ० १५३-१५४) और इसीलिए वे 'अंधा युग' में प्रभु-मरण चित्रित करने के लिए 'रसानुभाव' की कामना करते हैं—

'दो मुझे शब्द, दो रसानुभव, दो अलंकरण
मैं चित्रित करूँ तुम्हारा करुण रहस्य-मरण। (पृ० ११६)

डॉ० भारती का 'अंधा युग' रसपूर्ण रचना है। समस्या यह उठती है कि इसका अंगी रस क्या है? प्राचीन परिपाटी नाटक का मुख्य रस शृंगार या वीर मानती है—'एक एव भवदेगी शृंगारो वीर एव वा।' 'अन्धा युग' में शृंगार तो अंगी रस है नहीं। तो क्या वीर अंगी रस है? ऊपर से देखने में तो वह भी नहीं लगता। लगता है जैसे शान्त रस प्रधान हो। समस्त संहार

के बाद वैराग्य की-सी भावना उदित होती है। किन्तु नहीं; इसका प्रधान रस 'वीर' ही माना जायगा। वीर रस का स्थायी भाव है उत्साह। इस प्रतीकात्मक नाटक का नायक है प्रभु (मानव-मूल्य) जो आदि से लेकर अन्त तक उत्साह सम्पन्न है। वह दयावीर है—अपराधियों का दायित्व अपने ऊपर लेता है; वह कर्मवीर है जो अर्जुन को विगतज्वर होकर युद्ध करने की प्रेरणा देता है। यह उत्साह मरते समय भी क्षीण नहीं पड़ता। वस्तुतः उसका यह मरण है ही नहीं; उसने तो चोला बदला है; वह सदा जीने के लिए उत्साहशील है—

'मर्यादायुक्त आचरण में
नित नूतन सृजन में
निर्भयता के
साहस के
ममता के
रस के
क्षण में
जीवित और सक्रिय हो उठूँगा मैं बार बार।' (पृ० १२८)

वीर रस अंगी है और अन्य अंगभूत रस हैं—करुण, रौद्र, भयानक, वीभत्स तथा अद्भुत। करुण रस की अभिव्यञ्जना गान्धारी के निम्नलिखित कथन में होती है—

सत्रह दिन के अन्दर
मेरे सब पुत्र एक एक कर मारे गए
अपने इन हाथों से
मैंने उन फूलों सी वधुओं की कलाइयों से
चूड़ियाँ उतारी हैं
अपने इस आँचल से
सेंदुर की रेखाएँ पोंछी हैं। (पृ० २२)

रौद्र रस की अभिव्यंजना अश्वत्थामा के कार्यों से होती है। वह बड़ा भयंकर है। वह गांधारी के सम्मुख प्रतिज्ञा करता है—

'जैसे तुम्हारी कोख कर दी है पुत्रहीन कृष्ण ने
वैसे ही मैं भी उत्तरा को कर दूंगा पुत्रहीन। (पृ० ८५)

और वह ब्रह्मास्त्र छोड़ देता है रौद्र रूप धारण कर—

'रक्षा करो
अपनी अब तुम अर्जुन !
मैंने तो सोचा था
वल्कल धारण कर रहूँगा तपोवन में
पूरे पांडव वंश को
निर्मूल किये बिना शायद
युद्धलिप्सा
नहीं शान्त होगी कृष्ण की।
अच्छा तो यह लो !
यह है ब्रह्मास्त्र
अर्जुन स्मरण करो अपने
विगत कर्म
इसके प्रभाव को
एक क्या करोड़ कृष्ण मिटा नहीं पायेंगे।
× × ×
यह लो
यह है ब्रह्मास्त्र।' (पृ० ९१-९२)

भयानक रस की व्यन्जना 'युयुत्सु' के गृद्धत्व के समय होती है—

प्रहरी १: मायावी है वह
रूप धारण करता है नित नये-नये
बन्द कर दिया
जब रक्षकगण ने नगर द्वार,
धारण कर रूप
एक गृद्ध का

बन्द नगर-द्वारों के
ऊपर से
उड़ कर चला आया,
और लगा खाने
छत पर सोये बच्चों को

प्रहरी २. बन्द करो
जल्दी से द्वार उधर पश्चिम के।

प्रहरी १. (भय से) वह देखो।

प्रहरी २. (भय से) क्या है ?

प्रहरी १. वह आया।

प्रहरी २. छिपो, इधर
छिपो। (पृ० ५१-५२)

वीभत्स रस की बड़ी सशक्त अभिव्यंजना अनेक स्थलों पर हुई है। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

'मैं यह तुम्हारा अश्वत्थामा
शेष हूँ अभी तक
जैसे रोगी-मुर्दे के
मुख में शेष रहता है
गन्दा कफ़
बासी थूक
शेष हूँ अभी तक मैं।' (पृ० ३५)

अथवा—

'झोंकों में हिलते, ताड़ के पत्ते
मेरे पीप भरे जख्मों को चीर रहे थे
लेकिन साँसें साधे मैं खड़ा था मौन।' (पृ० १२३)

तथा—

'लेकिन हाय मैंने यह क्या देखा
तलवों में बाण बिंधते ही

पीप भरा दुर्गन्धित नीला रक्त
वैसा ही बहा
जैसा इन जख्मों से अक्सर बहा करता है
चरणों में वैसे ही घाव फूट निकले··· (पृ० १२३)

वृद्ध याचक की प्रेतात्मा जब अपनी मनःशक्ति से पात्रों को स्टेज पर बुला लेती है तब वहाँ अद्भुत रस की व्यंजना होती है। इसी प्रकार जब अश्वत्थामा के ब्रह्मास्त्र को कृष्ण अपने ऊपर लेते हैं या अर्जुन का बाण उसके विरोध में आता है तो अद्भुत रस की व्यंजना होती है—

'तो देख उधर
कृष्ण के कहने से पहले ही
अर्जुन ने छोड़ दिया था नभ में अपना ब्रह्मास्त्र (पृ० ९३)

धृतराष्ट्र. यह कैसी जयध्वनि ?
विदुर. महाराज
रक्षा करली उत्तरा की मेरे प्रभु ने !
धृतराष्ट्र. कैसे विदुर ?
विदुर. बोले वे
यदि यह ब्रह्मास्त्र गिरता है तो गिरे
लेकिन जो मुर्दा शिशु होगा उत्पन्न
उसे जीवित करूँगा मैं देकर अपना जीवन। (पृ० ९६)

यत्र-त्वचि शान्त रस की व्यंजना संजय और विदुर के संवादों में होती है। भक्ति-रस की व्यंजना 'समापन' में की गई 'वन्दना' में होती है।

इस प्रकार 'अन्धा युग' नाटक में विचारों को रस-व्यंजना के माध्यम से लेखक ने बड़ी कुशलता से अभिव्यक्त किया है।

: ७ :

'अंधा युग' रंगमंच

आज के युग में दृश्यकाव्य की सार्थकता तभी समझी जाती है जब कि वह रंगमंच पर प्रदर्शित किया जा सके। 'अन्धा युग' रंगमंच पर खेला जाने के लिए परम उपयुक्त है।

लेखक ने 'अंधा युग' के प्रारम्भ में 'निर्देश' देते हुए लिखा है—'मूलतः यह काव्य रंगमंच को दृष्टि में रखकर लिखा गया था। यहाँ यह उसी मूल रूप में छापा जा रहा है।' वास्तव में 'अंधा युग' ऐसी कृति है जिसे खुले मंच पर भी खेला जा सकता है, जिसे रेडियो से भी प्रसारित किया जा सकता है और जिसे लोक-नाट्य में भी परिवर्तित किया जा सकता है। स्वयं नाटककार ने लिखा है 'लिखे जाने के बाद इसका रेडियो-रूपान्तर भी प्रस्तुत हुआ, जिसके कारण इसके संवादों की लय और भाषा को माँजने में काफी सहायता मिली। मैंने इस बात को भी ध्यान में रक्खा है कि मंच-विधान को थोड़ा बदल कर यह खुले मंच वाले लोक-नाट्य में भी परिवर्तित किया जा सकता है।

'अंधा युग' का मञ्चविधान बड़ा सरल है। लेखक स्वतः ही इस विषय में पर्याप्त विस्तार से निर्देश दे देता है। इसके निम्नलिखित शब्दों को प्रस्तुत कर देना उचित होगा—

"समस्त कथावस्तु पाँच अंकों में विभाजित है। बीच में अन्तराल है। अन्तराल के पहले दर्शकों को लम्बा मध्यान्तर दिया जा सकता है। मंच-विधान जटिल नहीं है। एक पर्दा पीछे स्थायी रहेगा। उसके आगे दो पर्दे रहेंगे। सामने का पर्दा अंक के प्रारम्भ में उठेगा और अंक के अन्त तक उठा रहेगा। उस अवधि में एक ही अंक में जो दृश्य बदलते हैं, उनमें बीच का पर्दा उठता गिरता रहता है। बीच का और पीछे का पर्दा चित्रित नहीं होना चाहिए। मंच की सजावट कम से कम होनी चाहिए। प्रकाश व्यवस्था में अत्यन्त सतर्क रहना चाहिए।

दृश्य-परिवर्तन या अंक-परिवर्तन के समय कथा-गायन की योजना है। यह पद्धति लोक-नाट्य-परम्परा से ली गयी है। कथानक की जो घटनाएँ मंच पर

नहीं दिखाई जातीं, उनकी सूचना देने, वातावरण की मार्मिकता को और गहन बनाने या कहीं-कहीं उसके प्रतीकात्मक अर्थों को भी स्पष्ट करने के लिए यह कथा गायन-पद्धति अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुई है। कथा गायक दो रहने चाहिए : एक स्त्री और एक पुरुष। कथा गायन में जहाँ छन्द बदलता है, वहाँ दूसरे गायक को गायन-सूत्र ग्रहण कर लेना चाहिए। वैसे भी आशय के अनुसार उचित प्रभाव के लिए, पंक्तियों को स्त्री या पुरुष गायकों में बाँट देना चाहिए। कथा-गायन के साथ अधिक वाद्य-यन्त्रों का प्रयोग नहीं होना चाहिए। गायक-स्वर ही प्रमुख रहना चाहिए।

जब 'अंधा युग' प्रस्तुत किया गया तो अभिनेताओं के साथ एक कठिनाई दीख पड़ी। वे संवादों को या तो बिलकुल कविता की तरह लय के आघात दे देकर पढ़ते थे, या बिलकुल गद्य की तरह। स्थिति इन दोनों के बीच की होनी चाहिए। लय की अपेक्षा अर्थ पर बल प्रमुख होना चाहिए, किन्तु छन्द की लय भी ध्वनित होती रहनी चाहिए। अधिक कल्पनाशील निर्देशक इसके रंगमंच को प्रतीकात्मक भी बना सकते हैं।"

लेखक ने 'अंधा युग' को रंगमंच और अभिनय के उपयुक्त बनाने में बड़ा मनोयोग प्रदर्शित किया है। इसके लिए उसने प्राचीन और नवीन—दोनों परम्पराओं का आश्रय लिया है। भारतीय नाट्यशास्त्र के अनुसार जो वर्ज्य दृश्य हैं उन्हें उसने रंगमंच पर नहीं दिखाया है। हत्या आदि की नेपथ्य से या अन्य प्रकार से सूचना दी गई है। गिद्धों का उड़ना आदि भी प्रहरियों के वार्तालाप से सूचित कराया है। इसी प्रकार अपशकुनों की सूचना भी पात्रों के मुख से दी है, दृश्य रूप में नहीं। कृष्ण का वध भी नहीं दिखाया गया है। मुरली की तान से और व्याध के कथन से उसकी सूचना दी है। अश्वत्थामा द्वारा धृष्टद्युम्न की हत्या, ब्रह्मास्त्र का प्रयोग आदि भी सूक्ष्म ही हैं। कुन्ती, गांधारी और धृतराष्ट्र का भस्म होना भी उसने अनभिनेय होने से सूच्य रखा है।

भाव यह है कि 'अन्धा युग' पूर्णतया मंच की दृष्टि से लिखा गया है। यह पूर्ण अभिनेय है। अभी इस प्रकार के नाटकों की परम्परा का हिन्दी में सूत्रपात ही हो रहा है। किन्तु 'अन्धा युग' के रेडियो रूपान्तर और मंचाभिनय ने ऐसी कृतियों की प्राणवत्ता सहज ही प्रतिपादित कर दी है।

: ८ :

अंधा युग : विचार पक्ष

अन्धा युग एक विचारशील लेखक की कृति है; अतः उसमें एक संघटित विचार परम्परा का दर्शन होता है। डॉ० धर्मवीर भारती स्वतः यह मानते हैं कि कोई भी साहित्यिक कृति एक साहित्यिक परम्परा की कड़ी, समाज-व्यवस्था की सांस्कृतिक निधि और एक व्यक्ति (लेखक) की एक विशिष्ट क्षण की अनुभूति की शब्दात्मक अभिव्यक्ति होती है। 'मानवमूल्य और साहित्य' में वे लिखते हैं—"कोई भी साहित्यिक कृति या धारा अपने में निस्संग, असम्पृक्त कृति या धारा नहीं होती। उसके पीछे एक लम्बी काव्य-परम्परा होती है। वह काव्य-परम्परा किसी विशेष जाति या समाज के बहुमुखी सांस्कृतिक कृतित्व का एक अंग मात्र होती है। उसके पीछे उस जाति के सुख-दुःख, संघर्ष और समन्वय, चिन्तन और अनुभूति के सैकड़ों और हजारों वर्षों के इतिहास की संचित परम्परा रहती है। वह क्षण, जिसमें वह कृति रची गई, उस लम्बे इतिहास की ही एक सम्बद्ध कड़ी है और वह कलाकार उसी समूह की एक इकाई है, फिर भी किसी विशिष्ट अनुभूति-प्रक्रिया और रचना-प्रणाली के बल पर सृजन का वह क्षण समस्त परम्परागत इतिहास से अधिक सजीव और मर्मस्पर्शी बन जाता है। कलाकार में एक विशिष्टता है जिसके बल पर वह काल-प्रवाह के उस एक बिन्दु को शब्दों में बाँधकर युग-युग के लिए स्थायी कर देता है। उस क्षण में उसके द्वारा अनुभूत भाव-सत्य केवल उसका और उस क्षण का ही न रहकर साधारणीकृत और स्थायी भी हो जाता है। इस समस्त प्रक्रिया को ध्यान में रखते हुए किसी भी कृति के मूल्यांकन में तीन तत्त्वों पर विचार करना अनिवार्य है। ये तीन तत्व अलग नहीं हैं, न इन पर एक-दूसरे से पृथक् रूप में विचार हो सकता है। ये तीनों समीक्षा के तीन आयाम

(dimensions) हैं और किसी भी एक के बिना शेष दो निरर्थक हैं। एक कला-कृति पहले रूप में एक संचित, शास्त्रीय परम्परा, जातीय सौन्दर्यबोध और परम्परागत काव्य-शृंखला की विशिष्ट कड़ी होती है। दूसरे रूप में वहएक विशिष्ट समाज-व्यवस्था की सांस्कृतिक निधि होती है और उसका एक विशिष्ट मूल्य होता है। तीसरे रूप में वह एक व्यक्ति की एक विशिष्ट क्षण की अनुभूति की शब्दात्मक अभिव्यक्ति होती है और कुछ विशिष्ट तत्वों से समन्वित होकर वह कला-कृति का महत्व प्राप्त करती है।" (मानवमूल्य और साहित्य, पृ० १४५-१४६)

'अन्धा युग' भी डॉ० भारती की एक विशिष्ट क्षण की अनुभूति की शब्दात्मक अभिव्यक्ति है जो कुछ विशिष्ट तत्वों से समन्वित होकर कला-कृति का महत्त्व प्राप्त करती है। 'मानवमूल्य' की वर्तमान प्रतिष्ठा के द्वारा ही मानव-भविष्य सुखी हो सकता है—लेखक की यह अनुभूति प्रतीकात्मकता आदि तत्त्वों से समन्वित होकर 'अन्धा युग' में अभिव्यक्त हुई है। लेखक के अनुसार साहित्यकार का यह वेदनापूर्ण दायित्व है कि वह प्रतिक्षण मानवीय गरिमा के प्रति संवेदनशील रहकर मानवमूल्य की प्रतिष्ठापना करे। लेखक नीत्शे, मैक्यावली डिकेडेण्टों, मार्क्स मैक्स पिकार्ड आदि का वहाँ विरोधी है जहाँ ये मानव को अविवेकी, बर्बर और पशु बनने की प्रेरणा और अनुमति देते हैं। लेखक उसे गौरवयुक्त बनाना चाहता है—वर्तमान के मर्यादित आचरण और निर्माण द्वारा। वह उस अन्धे युग में 'जहाँ जीवित अन्धे और द्रष्टा मुर्दे एक साथ पड़े हैं (एडिथ सिटवेल : 'अणुबम पर तीन कविताएँ) पश्चिम के द्वारा अनुभूत उस बिन्दु पर 'जिसके आगे अँधेरा है, अनिश्चय है, विभ्रम है'—एक ज्योति प्रदान करना चाहता है (मानव मूल्य और साहित्य, पृ० १९)। इसके लिए न तो उसे नीत्शे का अवर्तमान मनुष्य को सुपरमैन समझने, असत्य को जीवन का एक अनिवार्य शर्त मानने एवं वर्तमान को निरर्थक और मूल्यहीन मानने वाला दर्शन मान्य है, न मनुष्य की अन्तरात्मा को व्यर्थ सिद्ध करने वाली 'नीति कौशल' को वर्ग संघर्ष के लिए अन्तरात्मा से अधिक महत्त्व प्रदान करने वाली तथा मनुष्य से चिन्तन-स्वातन्त्र्य और विकल्प का आधार छीनकर उसे इतिहास का नियन्ता न मानकर उसको गौरव से रहित बनाने वाली मार्क्स

द्वारा दिखाई गयी राह रुचिकर है, न ही मनुष्य को उत्तरदायित्व, संकल्प और विवेक से रहित सिद्ध करने वाले फ्रायड से वह सहमत है और न ही वह 'सर्वथा असंगत और परस्पर विरोधी बातें करने वाले' साहित्यकारों से मेल खाता है (मानवमूल्य और साहित्य, अन्तरात्मा के ध्वंसावशेष)। वह ऐसे सृजन को मान्यता नहीं देता—जो क्रमहीन और असंगत पर आग्रह रखता हो तथा विवेक और दायित्व से मुक्त होने का आग्रह रखता हो। उसका निर्भ्रान्त और स्पष्ट मत है—'सृजन का क्षण वस्तुतः इस रिक्तता, विघटन और विच्छिन्नता के क्षण बिल्कुल पृथक् होता है। उसमें हम क्षण को एक संगति, एक अर्थ, एक क्रम प्रदान करते हैं। झूठी शाश्वतता और निश्चयात्मकता के अन्धविश्वासपूर्ण आश्वासनों का तिरस्कार कर हम मानवीय गरिमा की प्रतिष्ठा और मानवमूल्यों की खोज और उन्हें आत्मसात् करने की प्रक्रिया द्वारा क्षण को अर्थवान् बनाते हैं। वे जो ये सोच लेते हैं कि मानवमूल्यों की खोज एक बार हो चुकी है वे प्रतिष्ठित हो चुके हैं, अब हमें क्या करना है—वे अन्तरात्मा को भुला देना ही सुविधाजनक मान लेते हैं, फलस्वरूप वे कभी भी सृजन के क्षणों का साक्षात्कार नहीं कर पाते। वे जो यह सोच लेते हैं कि मानवमूल्यों की वास्तविक प्रतिष्ठा आज हो ही नहीं सकती, वह तो भविष्य की किसी समाज-व्यवस्था में होगी अतः आज हम जो कुछ भी मानव-विरोधी करें वह सर्वथा उचित है, संगत है—वे भी अन्तरात्मा को आगे के लिए स्थगित कर देते हैं। दोनों ही वर्तमान के प्रति अपने दायित्व से भागते हैं। वस्तुतः मानवीय गरिमा की प्रतिष्ठा प्रत्येक क्षण हो सके, यही हमारा दायित्व है। पूर्वजों ने किया था, या भावी पीढ़ियाँ उसे करेंगी, अगर इस आशा में हम वर्तमान को विवेकहीन, असंगत क्रमहीन क्षणों का एक विराट जलप्लावन बना देते हैं तो इस अन्तरात्मा का पुनर्निर्माण कभी भी नहीं हो पायेगा। वस्तुतः मानवीय गरिमा के प्रति संवेदनाजन्य अन्तरात्मा की पुनः प्रतिष्ठा का एक वेदनापूर्ण दायित्व है जिसका निर्वाह हमें प्रतिक्षण करना पड़ता है। वे ही अर्थवान् क्षण हैं, आत्मोपलब्धि के क्षण हैं; आत्मोपलब्धि के—क्योंकि उन्हीं में हम अपने को पाते हैं—अर्थात् अर्थहीन शून्यता या अयथार्थमूलक अनस्तित्व से मुक्त कर अपने को सार्थक पाते हैं।' (मानवमूल्य

और साहित्य, अन्तरात्मा के ध्वंसावशेष, पृ० ३४-३५)

यह आत्मोपलब्धि डिकैडैण्ट कलाकारों और रहस्यवादियों की साधना से भिन्न है। लेखक मानवीय गरिमा की वास्तविक प्रतिष्ठा के लिए **"समानता"** की शर्त को पहली शर्त मानता है। उसके अनुसार—"मानवीय गरिमा की प्रतिष्ठा की एक शर्त यह भी है कि हम मानव मात्र की नियति से अपने को आबद्ध समझें।...साथ ही वे समस्त सिद्धान्त जो मानव-नियति को पूर्वनिर्धारित मानते हैं वे मनुष्य से विकल्प की स्वतन्त्रता और संकल्प की गरिमा छीन लेते हैं। क्योंकि फिर मनुष्य के अपने निर्णय का कोई महत्त्व नहीं रह जाता है, अपने विवेक की कोई सार्थकता नहीं रह जाती—वह केवल भारवाही पशु की भाँति जुए में कन्धे डालकर ही अपना सहयोग दे सकता है। इसलिये बार-बार इस बात पर बल देना आवश्यक है कि—'नियति नहीं है पूर्वनिर्धारित, उसको प्रतिक्षण मानव-निर्णय बनाता-मिटाता है।' (अन्धा युग) हम अपनी अन्तरात्मा से निर्देशित होकर अपने विवेकपूर्ण आचरण के द्वारा जिस अंश तक उस नियति का साक्षात्कार करते हैं उसी अंश तक मानव नियति वास्तविक होती है। इसलिए प्रगति की जो धारणा पिछली दो-तीन शताब्दियों से प्रचलित रही है वह आज के सन्दर्भ में सार्थक नहीं हो सकती। उन धारणाओं के अनुसार प्रगति एक ऐसी प्रक्रिया है जो हमारे बाहर, हमसे स्वाधीन घटित हो रही है। या तो हम उस प्रक्रिया के साथ हैं, और यदि साथ नहीं हैं तो उसमें बाधक हैं, उसके विरोधी शिविर में हैं। यह एक खण्डित युद्धजन्य दृष्टि है जिसकी मूल प्रेरणा है राजनीतिक उपयोगितावाद। सृजन, साहित्य और संस्कृति के क्षेत्र में प्रगति की धारणा अन्ततोगत्वा आन्तरिक ही हो सकती है। प्रगति (नियति का क्रमिक साक्षात्कार) हम से निरपेक्ष नहीं है। वह हमसे आबद्ध है, उसके निर्णायक तत्त्व हम ही हैं। इसीलिए प्रगति के प्रसंग में, समानता की स्थापना और मानवीय गरिमा की प्रतिष्ठा 'अन्योन्याश्रित हैं, अविच्छिन्न मूल्य हैं। इसे समझकर इसी दिशा से अन्तरात्मा की पुनर्प्रतिष्ठा इस आसन्न संकट से मानवमात्र का उद्धार कर सकती हैं, विवेक और साहस का यह मार्ग थोड़ा दुस्तर अवश्य है, किन्तु इसके अतिरिक्त और कोई रास्ता नहीं। बाकी सब पश्चिम में

झूठे पड़ चुके हैं।" (मानवमूल्य और साहित्य, अन्तरात्मा के ध्वंसावशेष पृ० ३५-३७)

उपर्युक्त विचार-परम्परा का प्रतिफलन ही 'अन्धायुग' में हुआ है। लेखक मानवमूल्य की प्रतिष्ठा के प्रति दत्तावधान है। माना, कुछ साहित्यकार इस ओर ध्यान नहीं देते किन्तु अन्ततोगत्वा विवेकी साहित्यस्रष्टा इसे अवश्य प्रतिष्ठित करेंगे। यही प्रभु का जीवन है; यही मानवमूल्य प्रभु का सक्रिय रूप है। वृद्ध के शब्दों में 'मानवमूल्य' ही बोल रहा है :—

वृद्ध—बोले अवसान के क्षणों में प्रभु—

"मरण नहीं है ओ व्याध !
मात्र रूपांतरण है वह
सबका दायित्व लिया मैंने अपने ऊपर
अपना दायित्व सौंप जाता हूँ मैं सबको
अब तक मानव-भविष्य को मैं जिलाता था
लेकिन इस अंधे युग में मेरा एक अंश
निष्क्रिय रहेगा, आत्मघाती रहेगा
और विगलित रहेगा
संजय, युयुत्सु अश्वत्थामा की भाँति
क्योंकि इनका दायित्व लिया है मैंने !"

बोले वे—

"लेकिन शेष मेरा दायित्व लेंगे
बाकी सभी······
मेरा दायित्व वह स्थित रहेगा
हर मानव-मन के उस वृत्त में
जिसके सहारे वह
सभी परिस्थितियों का अतिक्रमण करते हुए
नूतन निर्माण करेगा पिछले ध्वंसों पर !
मर्यादायुक्त आचरण में
नित्य नूतन सृजन में

निर्भयता के
साहस के
ममता के
रस के
क्षण में
जीवित और सक्रिय हो उठूँगा मैं बार-बार।"
(पृ० १२७-१२८)

इसी मानवमूल्य की प्रतिष्ठा का कथा गायन में संकेत किया गया है—

"पर एक तत्त्व है बीजरूप स्थित मन में
साहस में, स्वतन्त्रता में, नूतन सर्जन में,
वह है निरपेक्ष उतरता है पर जीवन में
दायित्वयुक्त, मर्यादित, मुक्त आचरण में
उतना जो अंश हमारे मन का है
वह अर्द्धसत्य से, ब्रह्मास्त्रों के भय से,
मानव-भविष्य को हर दम रहे बचाता
अन्धे संशय, दासता, पराजय से !" (पृ० १३०)

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि 'अन्धायुग' का मुख्य विचार मानवमूल्य की प्रतिष्ठा है। इसके लिए लेखक परम्परा को एवं मर्यादा का अनिवार्य मान्यता देता है। 'पिछले ध्वंसों पर' और **'मर्यादायुक्त आचरण'** आदि शब्द इसके प्रमाण है। किन्तु अन्ध परम्परा लेखक को मान्य नहीं है। परम्परा-पालन के विषय में उसकी प्रगतिशील विचारधारा काम कर रही है। जो पिछला 'बुरा' है उसे छोड़ देना और जो आज का 'अच्छा' है उसे उसके स्थान पर जोड़ देना—यही परम्परा का अर्थ है। रूढ़ियाँ और हीन ग्रंथियाँ नहीं लेखक ने 'मानव मूल्य और साहित्य' में इसकी ओर संकेत किया है। 'मानवीय गौरव, स्वातन्त्र्य समानता, स्वाधीन चिन्तन, लोक-कल्याण, कर्मठता ये तत्व हमारी परम्परा के महत्वपूर्ण तत्व रहे हैं, पर अभी तक समुचित आग्रह नहीं दिया जा सकता।...मानवीय गौरव की प्रतिष्ठा भी हमारी परम्परा की एक महत्वपूर्ण उपलब्धि रही है। इसे हम लगभग भूल गये थे, क्योंकि यूरोप के बाजारों में तो माँग थी एशियायी रहस्यवाद की।......हमारी परम्परा महान् है इसमें सन्देह

नहीं पर संक्रमण की स्थितियों में पता नहीं कहाँ पर, क्या छूट गया कि वह हमें एक खुमार भले दे दे, या एक उत्तेजना भी दे दे, पर आज वह अपने आप हममें प्राणदायक उष्ण रक्त का सञ्चार कर सकने में अक्षम है। इतिहास के इस संकटपूर्ण क्षण में परम्परा हमको धारण नहीं कर सकती, परम्परा स्वतः हमको नहीं बचा सकती— सच तो यह है कि हम ही यदि चाहें तो अपने विवेक पूर्ण निर्णय से और साहसपूर्ण आचरण से परम्परा को बचा सकते हैं, परम्परा को अनवरत प्रयास करके शायद फिर से जीवित भी कर सकते हैं। अन्यथा यह समझना कि इतिहास के इस महाशून्य में जहाँ हम पहुँच गये हैं परम्परा अपने आप हमको उसी तरह धारण किये रहेगी जैसे कच्छप पृथ्वी को धारण करता है, यह उसी मानसिक कायरता और आलस्य का द्योतक है जो अपने गहन समसामयिक ऐतिहासिक उत्तरदायित्व को न समझना चाहती है, न उसको ग्रहण कर आचरण में उतारना चाहती है।"

डॉ० भारती परम्परा के साथ ही मर्यादा पर भी बल देते हैं। वे साहित्य की मर्यादा प्रगति को स्वीकार करते हैं, प्रगति की मर्यादा आचरण को, आचरण की मर्यादा स्वातन्त्र्य को और स्वातन्त्र्य की मर्यादा नये दायित्व को। (दे० मानवमूल्य और साहित्य, नयी मर्यादा का उदय पृ० १०१—१४०) नया दायित्व यही सिद्ध करता है कि—'इस संकट में भी मनुष्य हारा नहीं है बल्कि उसने उसका प्रत्युत्तर दिया है और दिनों-दिन उसने और भी सशक्त स्वरों में घोषित किया है कि वह प्रगति का सूत्र है और इतिहास का निर्माता है।' (मानवमूल्य और साहित्य, पृ० १३४) 'यह नयी मर्यादा एक सक्रिय दायित्व के रूप में विकसित हुई है, अतः एक जागरूक अनवरत अथक क्रियाशीलता के प्रति सशक्त आह्वान है। मानवीय मूल्य विराट् मानव जीवन की अगणित शिराओं में संचरित होता रहता है। जहाँ भी यह रक्तप्रवाह रुका वहीं अंग पक्षाघात से आहत होकर सूख जाता है। बेकाम हो जाता है। हमारी मानव संस्कृति में आज पूरे देश, पूरी जातियाँ, पूरे सम्प्रदाय, पूरी चिंतनधाराएँ और पूरे के पूरे साहित्यिक निकाय इस मूल्यहीनता से, इस पक्षाघात से अशक्त होकर प्रगति और विकास की दिशाओं से भटक गये हैं। हमारे सामने मानवीय मूल्य को पूरी संस्कृति के प्राणों में प्रतिष्ठित करने का जटिलतम दायित्व है।'

(वही, पृ० १३४—१३५) लेखक यह स्वीकार नहीं कर पाता कि यह कार्य अपने आप होगा—'यह अपने आप विकास होने की बात चाहे बाह्य अर्थ-व्यवस्था के रूपक में कही जाय या अवतरित होने वाली चेतना के रूपक में, किन्तु यह हमारे दायित्व के महत्त्व को घटा देती है। यह दायित्व हमारा है, हम विकास करेंगे तो विकास होगा; नहीं करेंगे तो नहीं होगा।' (वही १३५) यही बात वृद्ध के शब्दों में कही गयी है :—

निश्चय ही !
वे हैं भविष्य
किन्तु हाथ में तुम्हारे हैं।
जिस क्षण चाहो उनको नष्ट करो।
जिस क्षण चाहो उनको जीवन दो, जीवन लो।' (पृ०१२८)

'साहित्यकार का यह नया दायित्व इतिहास-निर्माण का दायित्व है, मानव-संस्कृति के मूल्यात्मक विकास का दायित्व है और सामान्य व्यक्ति के दायित्व से कई गुना अधिक जटिल है दायित्व है; क्योंकि साहित्यकार की पक्षधरता और संघर्ष विवेक का स्तर बहुत गहरा है।...साहित्य की इस नयी मर्यादा का उदय इतिहास के धूल भरे पन्नों में खो जाने वाली एक विस्मृत कथा बनेगा, या नव निर्माण की, प्रगति की, विकास की भूमिका—यह हमारे इसी क्षण के चुनाव पर निर्भर करता है।

प्रश्न सम्प्रदायों और सत्ताओं का नहीं है। प्रश्न मानवीय मूल्य-मर्यादा, उसकी साहसपूर्ण स्वीकृति और निष्ठापूर्ण आचरण का है। चुनाव स्पष्ट है, हम चाहें तो भय से वाणी को रुग्ण और जर्जर बना डालें—चाहें तो साहस को वरण कर अपनी वाणी को इस नयी मर्यादा की अपराजेय तेजस्विता से अभि-षिक्त कर इतिहास को नया मोड़ दे दें। अज्ञात भविष्य में हमारा साहित्य वहाँ तक स्थायी रहेगा, यह भी इसी बात पर निर्भर करता है कि हम इसी क्षण अपने कृतित्व में स्थायी मानवीय मूल्य के समस्त सम्भावित विकास का कहाँ तक और कितनी गहराई तक साक्षात्कार करा पाते हैं।' (वही १३९-४०)—

झूठी थी सारी अनिवार्यता भविष्य की।
केवल कर्म सत्य है
मानव जो करता है, इसी समय

उसी में निहित है भविष्य
युग-युग तक का ! (पृ० ४०)।

× ×

वर्तमान से स्वतन्त्र कोई भविष्य नहीं

... ...

हर क्षण इतिहास बदलने का क्षण होता है।' (पृष्ठ ४२)

इस प्रकार जब अनासक्त होकर दायित्व का निर्वाह किया जाता है तो इतिहास बदल जाता है—

"जब कोई भी मनुष्य
अनासक्त होकर चुनौती देता है इतिहास को,
उस दिन नक्षत्रों की दिशा बदल जाती है ।
नियति नहीं है पूर्व-निर्धारित—
उसको हर क्षण मानव-निर्णय बनाता-मिटाता है (पृ० २४)

यही है 'अन्धा युग' का विचार कि साहित्यकार को वर्तमान में ही साहस और दृढ़ता के साथ मर्यादा युक्त आचरण में मानव मूल्यों की स्थापना के दायित्व का निर्वाह अतन्द्रिल होकर करना चाहिए अन्यथा संशय और अँधेरे में मानव भटक जाएगा। इसी दायित्व के परिचालन से साहित्यकार युद्ध के खतरे टाल सकता है, विश्व में चैन की साँस लेने का वातावरण प्रस्तुत कर सकता है। उसका विचार है—**'पर नहीं, संसार भी क्यों मरे ?' (भूमिका)**

: ९ :

अन्धायुग : प्रतीक-योजना

"साहित्य की महत्ता और सामाजिक उपयोगिता इसी में है कि वह हमारी चेतना में बहुत गहरे उतर कर हमारी वृत्तियों का संस्कार करता है, उन्हें एक उदात्त सामाजिकता प्रदान करता है। वह चाहे किसी भी संकीर्ण मतवाद का प्रचार करे या न करे, वह किसी तात्कालिक समस्या का स्पष्ट समाधान दे या न दे, किन्तु यदि उसमें यह शक्ति है कि वह हमारी वृत्तियों को संस्कृत बनाता है तो वह साहित्य कल्याणकारी है। टालस्टाय की राजनीति क्या थी शेक्सपीयर ने अपने समय के किसी दंगे में किसका पक्ष लिया था, और टी० एस० ईलियट किस ईसाई-सम्प्रदाय का अनुयायी है—यदि पाठक यह नहीं जानता फिर भी इनका साहित्य उसके हृदय को छूता है, उसकी वृत्तियों को परिष्कृत करता है, उसके सौन्दर्य-बोध को जाग्रत करता है, उसके व्यक्तित्व को सामाजिक बनाता है, उसमें मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा करता है, उसकी दायित्व-भावना को सचेत करता है—संक्षेप में यदि वह उसे जीवन प्रक्रिया के प्रति उद्बुद्ध करता है, और समाज को अधिक सुसंस्कृत इकाई भी बनाता है तो उसने अपना दायित्व पूरा किया है। बाह्य घटनाओं की अपेक्षा साहित्यकार का ध्यान सामाजिक व्यवस्था द्वारा उद्भूत जटिल रागात्मक स्थितियों और उनसे उत्पन्न होने वाली विषमताओं, विकृतियों तथा असन्तुलन पर केन्द्रित रहता है और वह उन्हीं का परिहार एवं परिष्कार करता है। कभी वह उसके लिए तात्कालिक नाम, स्थिति और पृष्ठभूमि ग्रहण करता है, कभी वह उसी को पौराणिक और काल्पनिक देशकाल और पात्रों के माध्यम से अभिव्यक्त करता है, कभी वह उसके लिए अप्रस्तुत प्रतीकों और संकेतों का आश्रय लेता है। साहित्यकार अपने स्तर पर, अपने ढंग से संस्कृति की विराट् प्रक्रिया में योग देता है। रसानुभूति और सौंदर्य-बोध उसके माध्यम हैं; और युग, काल

एवं स्थितियों के अनुसार जैसी भी जटिलताएँ होती हैं, वैसी ही सूक्ष्म तथा अप्रत्यक्ष रीति से वह अपना कार्य करता है।

(मानव मूल्य और साहित्य, पृ० १५२-१५३)

'अन्धा युग' लिखकर डॉ० भारती ने अपना दायित्व पूरा किया है। उन्होंने समाज में फैली विषमताओं, विकृतियों एवं असन्तुलन का परिहार-परिष्कार करने की चेष्टा की है। इस कार्य को उन्होंने पौराणिक कथा और प्रतीकों के माध्यम से किया है। 'प्रतीक' का शाब्दिक अर्थ 'चिह्न' 'परिज्ञान' 'लक्षण' आदि है। हिंदी का यह शब्द अंग्रेजी Symbol का समानार्थी है। इसके विधान से कृति में एक विशेष चारुत्व एवं भावगत अमूर्तता की सिद्धि होती है 'अन्धा युग' एक प्रतीकात्मक काव्य-नाटिका है। डॉ० भारती ने इसके अतिरिक्त 'सृष्टि का आखिरी आदमी' एक प्रतीकात्मक काव्य-नाटक और भी लिखा है। 'अन्धा युग' के अन्त में कथा-गायन के माध्यम से लेखक ने नाटक की प्रतीकात्मकता की अभिव्यक्ति इस प्रकार की है—

उस दिन जो अन्धा युग अवतरित हुआ जग पर
बीतता नहीं रह रहकर दोहराता है
हर क्षण होती है प्रभु की मृत्यु कहीं न कहीं
हर क्षण अँधियारा गहरा होता जाता है
हम सबके मन में गहरा उतर गया है युग
अँधियारा है, अश्वत्थामा है, संजय है,
है दासवृत्ति उन दोनों वृद्ध प्रहरियों की,
अन्धा संशय है, लज्जाजनक परजय है !
पर एक तत्त्व है बीजरूप से स्थित मन में
साहस में, स्वतंत्रता में, नूतन सर्जन में,
वह है निरपेक्ष उतरता है पर जीवन में
दायित्वयुक्त, मर्यादित, मुक्त आचरण में
उतना जो अंश हमारे मन का है
वह अर्द्धसत्य से, ब्रह्मास्त्रों के भय से,

मानव-भविष्य को हर दम रहे बचाता
अन्धे संशय, दासता, पराजय से ! (पृ० १३०)

'**अन्धायुग**' नाटक का यह नाम भी प्रतीकात्मक है। द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् राजनीति और साहित्य के क्षेत्र में अन्धेरा ही अन्धेरा छा गया, विशेषतः पश्चिम में—जिसका प्रतीक यह अन्धा युग है। एडिथ सिटवेल ने 'अणुबम पर तीन कविताएँ' लिखकर इस अन्धे युग का संकेत किया है। वह लिखती है—

'अपने हृदय पर कीलों से ठुकी हुई जैसे सलीब पर चोर
मैं लटक रही हूँ बीचो बीच—जीसस् के और उस खाई के
जहाँ इस संसार का अन्त आ गया है······
... ...
जीवित अन्धे और द्रष्टा मुर्दे एक साथ पड़े हुए हैं
जैसे प्रेमी······और न अब नफरत रही है
और न प्रेम है। लुप्त हो गया है मनुष्य का हृदय।'

'लगभग समस्त पाश्चात्य साहित्य में, द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति के बाद जो साहित्य आया उसमें उसी विषाद, निराशा, दुश्चिन्ता, बेचैनी की प्रतिध्वनि मिलती है जो इन पंक्तियों में है। पश्चिम ने यह अनुभव कर लिया था कि वह एक ऐसे बिन्दु पर पहुँच गया है जिसके आगे अँधेरा है, अनिश्चय है, दिग्भ्रम है।' (मानवमूल्य और साहित्य, पृ० १९) पश्चिम की समस्त व्यवस्था टूटे हुए उत्ताल लहरों पर निरुद्देश्य डोलते हुए पोत की सी हो गई। उसमें जो दर्शन उभरा, जो साहित्य पनपा उसमें ध्वस्त होती हुई अन्तरात्मा का स्पष्ट आभास मिलने लगा था। किपलिंग, नीत्शे जैसे लेखक असत्य की प्रतिष्ठा में लगे थे; साहित्य में मानव की अन्तरात्मा विकृत रूप में उपस्थित हो रही थी। साहित्य के अतिरिक्त राजनीति के क्षेत्र में भी घोर अन्धापन छाने लगा।

न केवल पश्चिम में अपितु भारत में भी इस युग में संकट की स्थिति आयी। डॉ० भारती लिखते हैं—'ज्यों ही संघर्ष का युग समाप्त हुआ और सत्ता का युग आया त्यों ही यह ऊपरी भव्यता और प्रभा मण्डल अकस्मात् निस्तेज पड़ने लगा और सारी परिस्थिति में अन्तर्निहित असंगति और अविवेक स्पष्ट ही दीखने लगा। इस प्रभामण्डल (नैतिकता के प्रभामण्डल) के फीके पड़ने के चिह्न

तो सन् ३६ के ही लगभग दीख पड़ रहे थे। जब पहली बार राष्ट्रीय मन्त्रिमंडल बने थे उस समय भी महसूस किया जाने लगा था कि "राष्ट्रीय मन्त्रिमंडल पुराने तौर-तरीके में अपने को ढाल रहे हैं और उन्हीं को उचित साबित करने की कोशिश करने लगे हैं। यह सब हालाँकि बुरा है पर बर्दाश्त किया जा सकता है पर उससे भी बुरा यह है कि इतनी मेहनत से हमने जो जनता के दिल में ऊँची पोजीशन बनायी है उसे हम धीरे-धीरे खोते जा रहे हैं। हम पेशेवर राजनीतिज्ञों के स्तर पर उतार दिये गये हैं।" (१६३६ में गांधी जी के नाम लिखे गये नेहरू जी के एक पत्र में) आज भी भारत में शासन-सत्ता विचित्र रूप दिखा रही है। इस प्रकार क्या देश में क्या विदेश में, क्या साहित्य में, क्या राजनीति में जो संकट और अनिश्चय की स्थिति आयी—उसका प्रतीक अन्धा युग है। 'स्थापना' की 'उद्घोषणा' में यही तथ्य प्रतिपादित किया गया है—

"जिस युग का वर्णन इस कृति में है
उसके विषय में विष्णु पुराण में कहा है :
'ततश्चानुदिनमल्पाल्प ह्रास
व्यवच्छेदाद्धर्मार्थयोर्जगतस्संक्षयो भविष्यति।'
उस भविष्य में
धर्म-अर्थ ह्रासोन्मुख होंगे
क्षय होगा धीरे-धीरे सारी धरती का।
'ततश्चार्थ एवाभिजन हेतुः।'
सत्ता होगी उनकी
जिनकी पूँजी होगी
'कपटवेष धारणमेव महत्व हेतुः।'
जिनके नकली चेहरे होंगे
केवल उन्हें महत्व मिलेगा।
'एवं चातिलुब्धक राजा
सहाश्शैला नामन्तरद्रोणीः प्रजा संश्रियष्यन्ति।'
राजशक्तियाँ लोलुप होंगी,
जनता उनसे पीड़ित होकर
गहन गुफाओं में छिप-छिपकर दिन काटेगी। (पृ० ६-१०)

(गहन गुफाएं वे सचमुच की या अपने कुँठित अन्तर की)

आज यही हो रहा है जिन्होंने नाममात्र को खद्दर की कुर्ता, धोती, टोपी या भगवे रंग की कुर्ता धोती या लाल रंग की टोपी पहन रखी है वे नेता हैं; जिनके पास धन है; वे गवर्नमेंट की जमानत देते हैं—सरकार उनके इशारे पर चलती है; राजशक्तियाँ लोलुप हैं। आज मनुष्य की स्थिति, मनोवृत्ति, आत्माएँ सभी विकृत हैं—

'युद्धोपरान्त,
यह अन्धा युग अवतरित हुआ
जिसमें स्थितियाँ, मनोवृत्तियाँ, आत्माएँ सब विकृत हैं
है एक बहुत पतली डोरी मर्यादा की
पर वह भी उलझी है दोनों ही पक्षों में।' (पृ० १०)

इस प्रकार 'महाभारत का अन्धा युग' आज से कुछ दिन पूर्व और आज के पश्चिमी और भारतीय साहित्य तथा राजनीतिक विषमता के युग का प्रतीक है।

अश्वत्थामा—साहित्यिक क्षेत्र में नीत्शे और सार्त्र आदि के मनुष्य का और राजनीतिक क्षेत्र में अस्त्र सम्पन्न युद्धवादियों का प्रतीक है। डॉ० भारती के शब्दों में—'समस्त यूरोपीय चिन्तन ने किसी न किसी रूप में किसी ऐसे तत्त्व को स्थापित किया है जिसकी आधार-शिला विवेक और अन्तरात्मा का अभाव है। कभी उसने रहस्य के नाम पर अविवेक और असंगति को एक प्रभा मण्डल से आच्छादित करने का प्रयास किया, कभी उसने किसी आगामी महामानव के अवतरण की कल्पना कर इस असंगति को उसके लिए आवश्यक मानकर उसका औचित्य सिद्ध करने का प्रयास किय., कभी मानवीय गौरव का गलत अर्थ लेकर मनुष्य की सभी से विभिन्न स्थिति की भ्रान्ति को प्रश्रय दिया, कभी "भविष्य के समाज में मानवीय गौरव स्थापित हो सकेगा। इसलिए आज उसका अभाव है तो होने दो"—ऐसे तर्क दिये। और कभी मनुष्य को मूलतः बर्बर असंस्कृत पशु मानकर उसकी पाशविक अचेतन वृत्तियों को ही सर्वोपरि मान्यता प्रदान की। ये सभी पद्धतियाँ अन्तरात्मा की व्यर्थता सिद्ध करती गयीं, और परिणाम यह हुआ कि एक दिन मनुष्य ने अपने को सिटबेल की पंक्ति के अनुसार 'जीजस् और उसकी खाई के बीचोंबीच लटके हुए पाया, जहाँ संसार का अन्त हो जाता

है।" (मानवमूल्य और साहित्य, पृ० २९-३०) वह नाजीवादी भावना का प्रतीक है। "नाजी बिना यथार्थ वाला मनुष्य होता है। वह किसी यथार्थ, किसी देश या किसी व्यक्ति को पदाक्रान्त कर सकता है, उसे दबोच सकता है, पर विघटित और क्रमहीन होने के कारण उसे आत्मसात् नहीं कर सकता। अतः उसे नष्ट कर देने की कोशिश करता है।" पूँजीवाद के परिणाम स्वरूप उभारी गयी हिंसक पाशविकता का भी अश्वत्थामा प्रतीक है। जाँ पाल सार्त्र के नास्तिक अस्तित्ववाद का भी वह प्रतीक है। 'सार्त्र ने स्थायी मानवमूल्यों को आमूल अस्वीकृत कर व्यक्ति की अबाध किन्तु अस्वाभाविक और अमर्यादित स्वतन्त्रता का प्रतिपादन किया है। वह मनुष्य को बिलकुल स्वतन्त्र, निरपेक्ष सत्ता मानता है जिसकी कोई मर्यादाएँ नहीं, कोई मूल्य नहीं, कोई नैतिकता नहीं, कोई प्रभु नहीं, कोई पूर्वनिश्चित मानवीय स्वभाव नहीं—वह परम स्वतन्त्र है, काल और दिशा से भी मुक्त, केवल स्वतन्त्रता की एक सत्ता। अपनी इस स्थिति में सार्त्र एक तीव्र संहारकारी अनास्थामात्र है, एक विराटकाय विध्वंसकारी संशय जो सारी स्थापित मर्यादाओं के मूल को नहीं मानता।" (मानव मूल्य और साहित्य, पृ० १२९) वह मरणोन्मुख संस्कृति का प्रतिनिधि भी है। प्रख्यात फ्रेन्च अस्तित्ववादी नाटककार गैब्रील मार्सेल की मरणोन्मुख संस्कृति की व्याख्या दर्शनीय है—"हम आज कहते हैं कि हमारी संस्कृति मरणोन्मुख है। इसके अर्थ क्या हैं?······मरणोन्मुख संस्कृति से मतलब यह होता है कि हमारी संस्कृति का आन्तरिक मूल्य कुछ भी नहीं रहा। मनुष्य में आन्तरिक रुग्णता आ गयी है। क्या यह आन्तरिक रुग्णता केवल एक शिविर में या एक व्यवस्था की संस्कृति में है? नहीं! हमारी वर्तमान स्थिति में दोनों ओर की सत्ताएँ प्रगति की शत्रु हैं। अतः वे जान-बूझकर मनुष्य की आन्तरिक वैयक्तिकता को रुग्ण और कुण्ठित बना रही हैं। वैयक्तिक आन्तरिकता के विरुद्ध इस गुप्त कीटाणु युद्ध के तरीके बड़े ही विचित्र और नृशंस हैं। व्यक्ति में भय का सञ्चार किया जाता है, उसके स्वाभिमान को तोड़ा जाता है, घृणा और हिंसा के भावावेश में लाया जाता है, सूक्ष्मतम मनोवैज्ञानिक साधनों से उसे इतना जर्जर कर दिया जाता है कि वह अपनी वैयक्तिकता पर अधिकार खो बैठता है, जिन कर्मों को

करता है उनका उत्तरदायी अपने को नहीं मानता और जिन कर्मों को नहीं करता उनका अपराधी अपने को मानकर झूठे बयान पर स्वेच्छा से हस्ताक्षर कर आता है, धीरे-धीरे वह विवेक से शून्य, स्वतन्त्र संकल्प से रहित, भावावेशों बाह्य हिप्नाटिक प्रभावों और ऐन्द्रजालिक अन्तर्विरोधों से परिचालित मानव यन्त्र मात्र रह जाता है। भय सञ्चार की इस टेकनिक का पूर्णतम विकास पूँजी-वादी देशों में अणुबम के रूप में हुआ है और साम्यवादी देशों में चित्त-पारतन्त्रय के रूप में।" (वही, पृ० १२५-१२६)

अश्वत्थामा अन्धे धृतराष्ट्र की मरणोन्मुख संस्कृति का पक्षधार है। पिता की हत्या से उसका स्वाभिमान जाग्रत हो उठता है। वह पशु हो जाता है, विवेक खो बैठता है और वृद्ध याचक भविष्य की हत्या कर देता है। उसके अस्तित्व का अंतिम अर्थ केवल वध है। वह सञ्जय की (तटस्थ व्यक्ति की) भी गर्दन मरोड़ देता है। उसके शब्दों में—

'जीवित रहूँगा मैं
अन्धे बर्बर पशु सा।
... ...
वध, केवल वध, केवल वध
अन्तिम अर्थ बने मेरे अस्तित्व का।' (पृ० ३६)

वह किसी न किसी को मारने के लिए उद्यत है—

'वध मेरे लिए नहीं रही नीति
वह है अब मेरे लिए मनोग्रन्थि
किसको पा जाऊँ
मरोड़ूँ मैं!' (पृ० ३८-३९)

कभी वह हत्या करके भी यह कहता है—

'पता नहीं मैंने क्या किया,
मातुल मैंने क्या किया!
क्या मैंने कुछ किया?' (पृ० ४३)

कभी वह कृतवर्मा को भयंकर प्रतीत होता है—

'भय लगता है
मुझको
इस अश्वत्थामा से ।' (वही, ४३)

कभी वह अपने द्वारा किये कर्मों का अपने को कारण नहीं मानता—

'मैंने नहीं मारा उसे···
मैं तो चाहता था वध करना भविष्य का
पता नहीं कैसे वह
बूढ़ा मरा पाया गया ।
मैंने नहीं मारा उसे
मातुल विश्वास करो ।' (वही, ४५)

वह मर्यादाहीन है—

'पागल हुए हो क्या
कुछ भी मर्यादाबुद्धि
तुममें शेप नहीं ।' (वही, ६३)

वह प्रतिशोध लेता है बड़े दारुण कर्म के द्वारा । वह भविष्य का हन्ता है । उसकी नस-नस में 'अन्धा युग' बैठा हुआ है, अन्धी प्रतिहिंसा हैं, पागलपन है । (वही, पृ० १६६)

गान्धारी और धृतराष्ट्र अश्वत्थामा को पेट्रोनाइज करते हैं । गान्धारी कटु यथार्थवादिनी, सत्तालोलुप और जानबूझकर अन्धी है । धृतराष्ट्र अन्धा स्वार्थी शासक है । अन्धी संस्कृति का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है । विदुर गान्धीवादी विचारधारा के प्रतीक हैं । युधिष्ठिर पेशेवर राजनीतिज्ञों के प्रतीक हैं । न तो जनता उनके राज्य में कुछ सुखी है और न उनके पहले के राज्य में ही सुखी थी ।

संजय तटस्थता का प्रतीक है । साथ ही वह आश्रय-प्राप्त लेखक का भी प्रतीक है । जिस प्रकार आश्रय प्राप्त साहित्यकार अपने आश्रयदाता की कटु आलोचना नहीं कर सकता उसी प्रकार संजय भी कौरव पक्ष की कटु आलोचना नहीं करता भले ही वह सत्य कहने की प्रतिज्ञा करता हो—

'सत्य कितना कटु हो
कटु से यदि कटुतर हो
कटु से कटुतम हो
फिर भी कहूँगा मैं
केवल सत्य, केवल सत्य, केवल सत्य
है अन्तिम अर्थ
मेरे—आह !'

(संजय का गला अश्वत्थामा घोंटता है। यह इस बात का प्रतीक है कि सत्य और तटस्थता का आश्रय लेने वाले व्यक्ति का आज का मानव-पशु गला घोंटता ही है।) तटस्थ सत्यवक्ता मानवमूल्य की आराधना करना चाहता है; अन्त में उसके पास पहुँचना चाहता है किन्तु वह निष्क्रय है। रहस्यवादियों का भी यह प्रतीक है।

युयुत्सु आत्मघाती अन्धता का प्रतीक है। साथ ही वह आज के समाज में रहने वाले उन लोगों का भी प्रतीक है जो भला करते हैं और बुरा पाते हैं। गूँगा भिखारी आज के युद्ध-विकलांगों का प्रतीक है। व्यास शान्तिकामी साहित्यकार और नेता के प्रतीक हैं। बलराम उग्रतावादी निष्क्रय शक्ति के प्रतीक हैं।

'अन्धा युग' नाटक में दूसरा महत्त्वपूर्ण प्रतीक है वृद्ध याचक। यह मानव-भविष्य को सुन्दर बनाने का उपदेश देता है और इस लेखक के दृष्टिकोण का प्रतीक है। उसकी दृष्टि में कोरा भविष्य-कथन व्यर्थ है; वर्तमान क्षण में ही नूतन निर्माण करना चाहिए। उसका यह कथन लेखक का ही दृष्टिकोण है—

'पता नहीं
प्रभु है या नहीं
किन्तु, उस दिन सिद्ध हुआ
जब कोई भी मनुष्य
अनासक्त होकर चुनौती देता है इतिहास को
उस दिन नक्षत्रों की दिशा बदल जाती है।

नियति नहींहैपूर्व निर्धारित—
उसको हर क्षण मानव-निर्णय बनाता मिटाता है।"

वह प्रगतिशील साहित्यकार की भाँति अन्त में मानवमूल्य की उद्घोषणा करता है कि उसने मानव मूल्य (प्रभु) साक्षात्कार किया है जिसे संसार को सुनना चाहिए—

'वे हैं निराश
और अन्धे
और निष्क्रिय
और अर्द्धपशु
और अँधियारा गहरा और गहरा होता जाता है।
क्या कोई सुनेगा
जो अन्धा नहीं है, और विकृत नहीं है, और
मानव भविष्य को बचायेगा ?
मैं हूँ जरा नामक व्याध
और रूपान्तरण यह हुआ मेरे माध्यम से
मैंने सुने हैं ये अन्तिम वचन
मरणासन्न ईश्वर के
जिसको मैं दोनों बाँहें उठाकर दोहराता हूँ
क्या कोई सुनेगा ?
कोई सुनेगा ?
क्या कोई सुनेगा······।' (अन्धा युग, १२६)

वृद्ध याचक आज के अवसरवादी ज्योतिषियों का भी प्रतीक हो सकता है। जिस प्रकार वे हर यजमान की जय बता देते हैं उसी प्रकार वह भी बताता है।

तीसरा महत्त्वपूर्ण प्रतीक है—प्रहरी युग्म। ये दोनों प्रहरी दासवृत्ति के प्रतीक हैं; जनता के प्रतीक हैं। 'कोउ नृप होउ हमें का हानी' - वाली प्रवृत्ति के प्रतीक हैं। 'मानवमूल्य और साहित्य' के पृ० ७४ पर डॉ० भारती लिखते हैं—"······लेकिन पिछले दस वर्षों में, न केवल विदेशों में, वरन् भारत में में भी राजनीति का महत्त्व घटा है।" "मानवनियति को केवल राजनीति की

परिभाषा में ही समझा जा सकता है (टामस मैन)"—सत्य इसके विपरीत ही सिद्ध हुआ। राजनीतिक कई चिन्तनधाराओं ने बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में यह दावा पेश किया था कि वे मानव-मुक्ति को ही लक्ष्य बनाकर चल रही हैं पर उन्होंने जिन व्यवस्थाओं को स्थापित किया उनको जनतन्त्र का नाम तो अवश्य दिया, पर अधिकांश व्यवस्थाओं में 'तन्त्र' औरों के ही हाथ में रहा 'जन' तो ज्यों का त्यों दास बना रहा। यह बात केवल विदेशों पर ही लागू नहीं होती, दुर्भाग्यवश यह कटु सत्य हमारे देश पर भी लागू होता है।" भारतीय जनता को जहाँ एक ओर भरपेट भोजन और तन ढकने को वस्त्र चाहिएँ वहाँ दूसरी ओर उसे 'समानता' भी चाहिए। इसी दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व प्रहरीयुग्म के वार्तालाप से होता है—

'जसे हम पहले थे
वैसे ही अब भी हैं।'		(अन्धा युग, ११८)

आज की जनता ही प्रहरियों के माध्यम से बोल रही है—

'हम जैसे पहले थे
वैसे ही अब भी हैं
शासक बदले
स्थितियाँ बिल्कुल वैसी हैं
इससे तो पहले वे ही शासक अच्छे थे
अन्धे थे···
लेकिन वे शासन तो करते थे
ये तो सन्त ज्ञानी हैं
शासन करेंगे क्या ?
जानते नहीं हैं ये प्रकृति प्रजाओं की
ज्ञान और मर्यादा—
उनका क्या करें हम ?
उनको क्या पीसेंगे ?
या उनको खायेंगे ?

या उनको ओढ़ेंगे ?
या उन्हें बिछायेंगे ?
हमको तो अन्न मिले
निश्चित आदेश मिलें
एक सुदृढ़ नायक मिले
अन्धे आदेश मिलें
नाम उन्हें हम युद्ध दें या शान्ति दें।
जानते नहीं हैं ये प्रकृति प्रजाओं की। (पृ० १०७-१०८)

और-

'सूने गलियारे सा सूना यह जीवन भी बीत गया।
क्योंकि हम दास थे।
केवल वहन करते थे आज्ञाएँ हम अन्धे राजा की
नहीं था हमारा कोई अपना खुद का मत। (पृ० २७)

चौथा मुख्य प्रतीक है प्रभु (कृष्ण)। वे मानवमूल्य के प्रतीक हैं। मानव-मूल्य की प्रतिष्ठा द्वारा ही मानव-भविष्य सुरक्षित रह सकता है। मानवमूल्य की प्रतिष्ठा के लिए मर्यादायुक्त आचरण, नूतन सृजन, निर्णयता, साहस, ममता तथा प्रेम आवश्यक है; इसीलिये प्रभु कहते हैं—

'मेरा दायित्व वह स्थित रहेगा
हर मानव मन के उस वृत्त में
जिसके सहारे वह
सभी परिस्थितियों का अतिक्रमण करते हुए
नूतन निर्माण करेगा पिछले ध्वंसों पर
मर्यादायुक्त आचरण में
नित नूतन सृजन में
निर्भयता के
साहस के
ममता के

रस के
क्षण में
जीवित और सक्रिय हो उठूँगा मैं बार-बार।' (१२७-१२८)

इसी मानव मूल्य की प्रतिष्ठा वैष्णवों ने—'हरिणा ये विनिर्मुक्ता ते मग्ना भवसागरे' कहकर की थी। मध्य युग का सन्त कवि कहता है 'जेती चलूँ तेती परदखना जो कुछ करूँ सो पूजा।" आधुनिक प्रयोगशील अंग्रेजी काव्य का प्रवर्तक गेरार्ड मैंटो हॉपकिन्स कहता है—"निहाई पर हथौड़ा चलाना, शहतीर चीरना, दीवारों पर सफेदी करना, घोड़े हाँकना, सड़क बुहारना, यह सब प्रभु के गौरव का परिवर्धन करते हैं, ...अतः मेरे बन्धुओ ! ज़िन्दगी जियो !" क्योंकि इसी प्रक्रिया के द्वारा हम मानवीय मूल्य को, प्रभु को सतत निर्मित और विकसित करते चलते हैं। रिल्क प्रभु से कहता है—"We are all workmen : prentice, Journey-men or master ।......building you you towering nave" इतना ही नहीं वह स्पष्ट चुनौती के स्वर में यह भी घोषणा करता है कि प्रभु की सार्थकता भी मनुष्य ही है, क्योंकि अन्ततोगत्वा प्रभु मानवीय मूल्यों की ही समग्रता का परम रूप है—

'What will you do, God, when I die ?
When I your pitcher, broken, lie ?
I am your grab, the trade you ply,
You lose your meaning, losing me."

(मानव मूल्य और साहित्य,(पृ० १३२-१३३)

इस प्रकार 'अन्धा युग' के प्रायः सभी पात्र प्रतीकात्मक हैं तथा प्रभु-मरण, या चक्र-मरण, युयुत्सु-अन्धत्व आदि घटनाएँ भी अपना प्रतीकात्मक अर्थ रखती हैं।

: १० :

अन्धा युग : आधुनिक समस्याएँ

वास्तविक कलाकृति वही है जिसका शाश्वत मूल्य हो। समय चाहे कितनी ही चाल बदले, कितनी ही मंजिल पार कर ले फिर भी वास्तविक साहित्यिक कृति की महत्ता न्यून नहीं होती। कवि क्रान्तिदर्शी होता है; अतीत और अनागत का ज्ञाता और अनुभाता होता है—अतः वह जो कुछ लिखता है उसका सभी युगों में महत्त्व होता है। उसकी यही स्थावर महत्ता उसे राजनीति या प्रचारात्मक साहित्य से व्यतिरिक्त स्थान दिलाती है। सदियों पुरानी वास्तविक कलाकृति आज भी हमें कुछ-न-कुछ देती है और कोरी प्रचार-भावना से मंडित कृति कल अपना अस्तित्व धारण करेगी या नहीं—यह भी कहना शंकास्पद है।

'अन्धा युग' सन् १९५४ में रचा गया। आज की दुनिया में १४ वर्ष बहुत बड़ी कालावधि है फिर भी इसे पढ़ने से आज विद्यमान समस्याओं की ओर संकेत मिलते हैं। साहित्य-सर्जन की समस्या, युद्धों की समस्या, शासन-संचालन की समस्या, तटस्थता की समस्या, भाई-भतीजावाद की समस्या तथा जनता की दास-वृत्ति की समस्या कुछ ऐसी समस्याएँ हैं जिनकी ओर अन्धायुग हमारा ध्यान आकृष्ट करता है।

पश्चिम में द्वितीय महायुद्ध के उपरान्त जो साहित्य आया वह संशयग्रस्त, चिन्ताग्रस्त तथा मानव की अन्तरात्मा को ध्वंस करने वाला ही सिद्ध हुआ। नीत्शे, मार्क्स, डिकेडैन्ट, मैकावलि, मैक्स पिकार्ड आदि चिन्तकों ने यद्यपि तथाकथित नवीन दृष्टिकोण साहित्य में प्रस्तुत किये तथापि वे मानव-मूल्य की अवहेलना करने से न चूके। उन्होंने सत्य और मर्यादा की परवाह नहीं की। मनुष्य को बर्बर और पशु स्वीकार करने में किसी विचिकित्सा का अनुभव नहीं किया। दिग्भ्रम और सन्देह को मनुष्य का आश्रय-स्थान समझा। इस प्रकार मानव की अन्तरात्मा को अंधेरे में भटकने के लिए मजबूर कर दिया। ऐसे

समय में साहित्य स्रष्टा के सम्मुख मानवीय गौरव और मानव-मूल्य मर्यादा को स्थापित करने की एक ज्वलन्त समस्या उपस्थित होती है। पश्चिम में मानव-मूल्य के सूर्य का उदय नहीं हो सका, पूर्व को यह कार्य अनुष्ठित करता है। यह नई मर्यादा है जो विवेकयुक्त मानव की अन्तरात्मा की प्रतिष्ठा कर साहित्य को चिरन्तन महत्त्वशाली सिद्ध करना चाहती है : अन्धायुग में प्रभु को मानवीय मूल्यों के प्रतीक-रूप में प्रस्तुत करके यही समस्या समाहित की गई है कि यदि साहित्य में मानव-मूल्य की प्रतिष्ठापना की जाएगी तो मानव-भविष्य सुखी रहेगा ऐसे साहित्य से कोई लाभ नहीं जो अन्तरात्मा की बर्बरता को उद्दीप्त करके संसार में नरसंहार को प्रोत्साहन दे। प्रभु के शब्दों में मानव-मूल्य ही बोल रहा है—

मेरा दायित्व वह स्थित रहेगा
हर मानव मन के उस वृत्त में…
जिसके सहारे वह
सभी परिस्थितियों का अतिक्रमण करते हुए
नूतन निर्माण करेगा पिछले ध्वंसों पर
मर्यादा युक्त आचरण में
नित्य नूतन सृजन में
निर्भयता के
साहस के
ममता के
रस के
क्षण में
जीवित और सक्रिय हो उठूँगा मैं बार-बार।(पृ०१२७-१२८)

यह मानव-मूल्य वर्तमान काल के साहित्यकार को ही प्रतिष्ठित करता है। यदि वर्तमान के इस क्षण में प्रसाद और तन्द्रा का अवलम्बन किया गया तो भविष्य सुखद नहीं हो सकता।

आधुनिक विश्व में सावन-भादों की उमड़ती-घुमड़ती घनघोर घटा के समान युद्ध का संकट छाया हुआ है : यह घटा विश्वव्यापी रूप में न बरसे, यह

मानव-जाति का सौभाग्य है किन्तु यह आवश्वक नहीं कि इस घटा को कोई तेज हवा का झोंका विश्व के नभोमण्डल से तिरोहित करने की गारण्टी ले सकता है। अमानुषिक शक्तिशाली, स्वाधीन विज्ञान स्वार्थी मानव के हाथ में अनेक अस्त्र, अनेक बम हैं जिनसे मानवता को खतरा बना हुआ है। एटम की समस्या का संकेत व्यास के शब्दों में—

ज्ञात क्या तुम्हें है परिणाम इस ब्रह्मास्त्र का।
यदि यह लक्षय सिद्ध हुआ ओ नरपशु !
तो आगे आने वाली सदियों तक
पृथ्वी पर रसमय वनस्पति नहीं होगी
शिशु होंगे पैदा विकलांग और कुष्ठग्रस्त
सारी मनुष्य जाति बौनी हो जायेगी
जो कुछ भी ज्ञान संचित किया है मनुष्य ने
सतयुग में, त्रेता में, द्वापर में
सदा सदा के लिए होगा विलीन वह
गेहूँ की बालों में सर्प फुफकारेंगे
नदियों में बह कर आयेगी पिघली आग। (पृ० ९२-९३)

एटम छोड़ने वाले नर-पशु को व्यास के शब्दों में मानो लेखक ही चेतावनी दे रहा है—

नराधम
ये दोनों ब्रह्मास्त्र अभी नभ में टकराएँगे
सूरज बुझ जाएगा
धरा बंजर हो जायेगी
... ...

अश्वत्थामा ! अपनी कायरता से तू
मत ध्वस्त कर मनुजता को

युद्ध का कुपरिणाम संहार ही संहार है जो मानवता के लिए एक बहुत बड़ी चुनौती है। युद्ध अपना प्रलयंकर तांडव करने के अनन्तर जो कुछ प्रसाद देता है वह है—चीखती—कराहती मानवता, धन का नाश, विधवाओं के

समूह, रोते-बिलखते बाप, घायलों की कतार, पुत्रशोकाकुल पत्थर बनी माताएँ और ऐसा ही अमंगलकारी और कुछ। जो लोग सजधजकर युद्ध में अपना शौर्य प्रदर्शन करने के लिए जाते हैं और लौटकर वे अपाहिजों की पंक्ति का परिवर्द्धन करते हैं—

दुपहर होते होते हिल उठा नगर
खण्डित रथ टूटे छकड़ों पर लद कर
थे लौट रहे ब्राह्मण, स्त्रियाँ, चिकित्सक
विधवाएँ, बौने, बूढ़े, घायल जर्जर
जो सेना रंग बिरंगी ध्वजा उड़ाते
रौंदते हुए धरती को गगन कंपाते
थी गई युद्ध को अठारह दिन पहले
उसका यह रूप हो गया आते-आते। (पृ० ४७-४८)

शासक स्वार्थान्ध होकर लोगों को युद्ध की दावाग्नि में झोंक देता है। फिर यदि वह झुलसे हुए लोगों को, कराहते हुए व्यक्तियों को सान्त्वना भी दे तो वह किस काम की? यह युद्ध की विभीषिका शासक की सबसे बड़ी पराजय है। धृतराष्ट्र के शब्दों में—

गूँगों के सिवा आज
और कौन बोलेगा मेरी जय? (पृ० ४९)

आज के युद्धों का एक बीभत्स पहलू यह है युद्धविराम होने के अनन्तर भी बम बरसाए जाते हैं; सन्धि और समझौते हो जाने पर भी एक दूसरे के प्रति विष-संचार किया जाता है। न जाने कितने अधर्म वारों से विजय प्राप्त की जाती है किन्तु अधर्म वारों से क्रिसमस की छुट्टी के दिन में तथाकथित युद्ध-विराम होता है और रात में घोर नृशंसता का परिचय देते हुए सोती जनता पर बम-वर्षा की जाती है; दिन में 'सीजफायर' डिक्लेयर कर दी जाती है और रात को अस्पतालों पर बम गिराकर तड़पते हुए रोगियों को और भी रौरव कष्टों का अनुभव कराया जाता है। खेद है कि कोई भी पक्ष इस अविवेक को त्यागता नहीं। जय होती है अन्धेपन की; अर्द्ध सत्य की; बर्बरता की और पाशविकता की और पराजय होती है विवेक की, सत्य की और

शान्तिपरता की। इस विडम्बनामूलक समस्या का भी संकेत अन्धा युग में किया गया है।

यह रक्तपात अब कब समाप्त होना है
क्या अजय युद्ध है नहीं किसी की भी जय
दोनों ही पक्षों को खोना ही खोना है
अन्धों से शोभित था युग का सिंहासन
दोनों ही पक्षों में विवेक ही हारा
दोनों ही पक्षों में जीता अन्धापन

× ×

तुमको मारा धृष्टद्युम्न ने अधर्म से
भीम ने दुर्योधन को मारा अधर्म से (पृ० ६३)

आज विश्व के कोने-कोने से सत्ता के प्रति विद्रोह के समाचार मिलते रहते हैं। कभी छात्रों का आन्दोलन, कभी मजदूरों का—जनता कहीं सुखी नहीं है। पूँजीवादी देशों में यदि शोषण है तो साम्यवादी देशों में विचार-स्वातन्त्र्य का अपहरण। पिछले शासन को ही जनता अच्छा मानती है। नये को रोती है। जनता जैसी पहले थी वैसी ही अब है। उसकी स्थिति में सुधार नहीं हुए। भले ही शासन के रंगमंच पर कितने ही नट अपनी कलाबाजी दिखा गये हों। प्रहरियों के माध्यम से इस समस्या पर मार्मिक विचार हुआ है—

हम जैसे पहले थे वैसे ही अब भी हैं
शासक बदले
स्थितियाँ बिल्कुल वैसी हैं
इससे तो पहले कहीं शासक अच्छे थे
अन्धे थे .....
लेकिन वे शासन तो करते थे
ये तो सन्त ज्ञानी हैं
शासन करेंगे क्या
जानते नहीं हैं ये प्रकृति प्रजाओं की
ज्ञान और मर्यादा

उनका क्या करें हम
उनको क्या पीसेंगे ?
या उनको खाएँगे ?
या उनको ओढ़ेंगे ?
या उन्हें बिछाएँगे ?
हमको तो अन्न मिले
निश्चित आदेश मिले
एक सुदृढ़ नायक मिले
अन्धे आदेश मिले
नाम उन्हें चाहे हम युद्ध दें या शान्ति दें
जानते नहीं हैं ये प्रकृति प्रजाओं की (पृ० १०७-१०८)

शासक की दशा भी पुष्ट नहीं है। उसकी यातना की अभिव्यंजना युधिष्ठिर के इस कथन में हुई है—

ऐसे भयानक महायुद्ध को
अर्द्धसत्य रक्तपात हिंसा से जीत कर
अपने को बिलकुल हारा हुआ अनुभव करना
यह भी यातना ही है
जिनके लिये युद्ध किया है
उनको यह पाना कि वे सब कुटुम्बी अज्ञानी हैं,
जड़ हैं, दुर्विनीत हैं, या जर्जर हैं
सिंहासन प्राप्त हुआ है जो
यह माना कि उसके पीछे अन्धेपन की
अटल परम्परा है; (पृ० १०४)

इस प्रकार आज का शासक और आज के शासित दोनों ही कष्ट में हैं। भाई-भतीजावाद भी आज की एक खतरनाक समस्या है जितका संकेत धृतराष्ट्र के इस कथन से मिलता है—

पर वह संसार
स्वतः मेरे अन्धेपन से उपजा था

मैंने अपने वैयक्तिक समवेदन से जो जाना था
केवल उतना ही था मेरे लिए वस्तु जगत
... ...
मेरा स्नेह, मेरी घृणा, मेरी नीति, मेरा धर्म
बिल्कुल मेरा ही वैयक्तिक था
उसमें नैतिकता का कोई बाह्य मापदण्ड था ही नहीं
कौरव जो मेरी माँसलता से उपजे थे
वे ही थे अन्तिम सत्य
मेरी ममता की वहाँ नीति थी
मर्यादा थी। (पृ० १७-१८)

आज तटस्थ व्यक्ति पूर्ण तटस्थ नहीं रह पाता। या तो तटस्थ को लोग शत्रु समझ लेते हैं अथवा कायर। तटस्थ व्यक्ति को अन्ततः एक न एक तरफ झुकना अवश्य पड़ता है।

'शत्रु है अगर वह तटस्थ है।' (पृ० ४२)

तटस्थ व्यक्ति दोनों पक्षों में किसी पर भी दबाव नहीं डाल सकता। उसका व्यक्तित्व नपुंसक व्यक्तित्व है, जैसा कि संजय के शब्दों से प्रतीत होता है—

मैं दो पहियों के बीच लगा हुआ
एक छोटा निरर्थक शोभा चक्र हूँ
जो बड़े पहियों के साथ घूमता है
पर रथ को आगे नहीं बढ़ाता
और न धरती ही छू पाता है!
और जिसके जीवन का सबसे बड़ा दुर्भाग्य यह है
कि वह धुरी से उतर भी नहीं सकता। (पृ० ७४)

आज के युग में आयुधों की होड़ भी एक समस्या है। बढ़ते हुए अस्त्र और शस्त्र किसी की रक्षा करें या न करें किन्तु हत्या अवश्य कर देंगे! शत्रु की और यदि शत्रु न हुए तो स्वयं अपनी ही। इस भयंकर समस्या का संकेत भी प्रहरियों के वार्तालाप से किया गया है—

युद्ध हो या शान्ति हो
रक्त पात होता है
अस्त्र रहेंगे तो
उपयोग में आएँगे ही
अब तक वे अस्त्र
दूसरों के लिए उठते थे
अब वे अपने ही काम आएँगे
यह जो हमारे अस्त्र अब तक निरर्थक थे
कम से कम उनका
आज कुछ तो उपयोग हुआ। (पृ० ११०)

इस प्रकार आज के युग की प्रमुख समस्याओं का संकेत देते हुए लेखक हमें यह सन्देश देता है कि हम उनका समाधान ढूँढें और उनके कुप्रभाव से बचें। उन पर विजय प्राप्त करें और मानव-मूल्य की प्रतिष्ठा के द्वारा संसार में कल्याण की सृष्टि करें।

: ११ :

अन्धा युग : काव्य रूप

'अन्धा युग' कैसा काव्य है ?—इस प्रश्न का उत्तर खोजने के लिए हमें सर्वप्रथम लेखक की टिप्पणी देखनी चाहिए। 'निर्देश' में उसने इसे 'दृश्यकाव्य', 'नाटक', 'गीतिनाट्य' और 'काव्य'—चार नामों से पुकारा है :—

१. इस दृश्यकाव्य में जिन समस्याओं को उठाया गया है.........।

(प्रथम पैराग्राफ पृ० ४)

२. अभी इस प्रकार के नाटकों की परम्परा का हिन्दी में सूत्रपात ही हो रहा है.........। (पाँचवाँ पैराग्राफ, पृ० ५)

३. ....वह न केवल इन गीतिनाट्यों वरन् समस्त नई कविता.........। (छठा पैराग्राफ, पृ० ५)

४. मूलतः यह काव्य रंगमंच को दृष्टि में रखकर लिखा गया था......।

(सातवाँ पैराग्राफ)

इन सभी नामों से निष्कर्ष यही निकलता है कि लेखक इसे 'गीतिनाट्य' मानता है क्योंकि काव्य तो प्रत्येक (दृश्य या श्रव्य) होता ही है; नाटक भी दृश्यकाव्य का ही नाम है। 'गीतिनाट्य' अवश्य एक विशिष्ट दृश्यकाव्यरूप है। अतः हमें 'गीतिनाट्य' के तत्वों के आधार पर 'अन्धा युग' को परखना है।

'हिन्दी-साहित्य-कोश' में गीतिनाट्य का परिचय इस प्रकार दिया गया है—'गीतिनाट्यों के आधुनिक रूप का, जिसकी भाषा गीतात्मक है, सर्वप्रथम सन् १८५४ में जन्म हुआ था, जब कि रिन्यूसिनी लिखित डेफ्ने को यूनानी दुःखान्त नाटकों को पुनरुज्जीवित करने के उद्देश्य से रंगमंच पर प्रस्तुत किया गया था। अतः पहले गीतिनाट्य संगीतपूर्ण दुःखान्त नाटक के रूप में होता था। विषय भी यूनानी पौराणिक कथाओं से लिये जाते थे। इन गीति-नाट्यों में संगीत, चित्रकारी, गीत-रचना, नृत्याभिनय, मंच-प्रचना इत्यादि कलाओं के

संयोजन से प्रेक्षकों पर मोहक प्रभाव-सृष्टि की जाती थी, १९वीं शताब्दी तक यूरोपीय देशों के सामन्त-समाजों में इसकी अधिक धूम रही। इसके पश्चात् सर्वसाधारण में भी यह लोकप्रिय होने लगा। फ्रांस में गीति-नाट्यों की बड़ी उन्नति हुई। वहाँ इनमें यथार्थवादी प्रवृत्तियों का समावेश हुआ तथा इनके अनेक रूप प्रचलित हुए। इनमें सुखान्त और दुःखान्त, भावात्मक एवं यथार्थवादी—सभी प्रकार के विषय उठाये गये। गीतिनाट्य के अंग हैं—१. प्रस्तावना, २. कथा, ३. संवादाभिनय, ४. गीत, ५. नर्तन। इसमें सारी कथा गीतों के माध्यम से प्रस्तुत की जाती है। इसकी दो शैलियाँ हैं—प्रथम मूक अभिनयात्मक, दूसरी संवादात्मक। प्रथम में एक दल-विशेष वाद्य-यन्त्रों की सहायता से भावयुक्त एवं संवादात्मक गीत गाता है और दूसरा दल उन गीतों की अनुरूप भूमिका में गीत के भावों के अनुरूप अभिनय करता है। भारत में इस प्रकार के गीति-नाट्यों का प्रचार महाकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने अपने शान्ति-निकेतन में किया था। उनका 'चाण्डालिका' नामक गीति-नाट्य रंगपीठ पर बड़ी सफलता पा चुका है। दूसरी शैली में गीतिनाट्य वे हैं जिनमें केवल पद्य-संवादमात्र रहते हैं। संवाद के अतिरिक्त जितना कथाभाग है उसे या तो गायक-मण्डली गीत द्वारा व्यक्त करती है अथवा एक भावनटी या भावनट आकर कथाभाग को नृत्य द्वारा प्रस्तुत करता है। अतः गीति-नाट्यों के प्रदर्शन-विधान में तीन दल होते हैं—१. अभिनेता, २. भावनट या भावनटी या कथाभिनेता, ३. गायक-वादक-मण्डली के दो दल, जिनमें से एक पात्र प्रतिनिधि होता है और दूसरा समवेत गायक। (पृ० २३६)

यहाँ बताये गये लक्षणों के आधार पर यह द्वितीय प्रकार का 'गीति-नाट्य' सिद्ध होता है। अन्तर केवल 'गीत' का है। संवादों में गीत का प्रयोग न होकर 'मुक्त छन्द' का है; कथा-गायन में गीत का प्रयोग हुआ है। मुक्त-छन्द से संवाद अधिक प्रभावात्मक हो गये हैं। 'गीति-नाट्य' है दृश्यकाव्य (रूपक) ही, बस उसके संवाद छन्दमय होते हैं। डॉ० भारती ने अपने इस 'गीतिनाट्य' में प्राचीन-पद्धति और आधुनिक पद्धति का अपूर्व संगम किया है। इसका संकेत देते हुए वे लिखते हैं—'इस दृश्यकाव्य में जिन समस्याओं को उठाया गया है,

उसके सफल निर्वाह के लिए महाभारत के उत्तरार्द्ध की घटनाओं का आश्रय ग्रहण किया गया है। अधिकतर कथावस्तु प्रख्यात है, केवल कुछ ही तत्व 'उत्पाद्य' हैं—कुछ स्वकल्पित पात्र और कुछ स्वकल्पित घटनायें। प्राचीन पद्धति भी इसकी अनुमति देती है। स्थापना और समापन भी पुरानी परम्परा को नये परिवेश में प्रस्तुत करते हैं। दो प्रहरी, जो घटनाओं और स्थितियों पर अपनी व्याख्याएँ देते चलते हैं, बहुत कुछ ग्रीक कोरस के निम्न वर्ग के पात्रों की भाँति हैं; किन्तु, उनका अपना प्रतीकात्मक महत्व भी है।' इस प्रकार यह कृति 'गीति नाट्य' होते हुए भी भारतीय-परम्परा के विरुद्ध नहीं है।

अब हम क्रमशः इसके अंगों का संकेत करते हैं। गीतिनाट्य के अंग हैं—१. प्रस्तावना, २. कथा, ३. संवादाभिनय, ४. गीत और ५. नर्तन। गीतिनाट्य के प्रदर्शन-विधान में तीन दल होते हैं—१. अभिनेता, २. भावनट या भावनटी या कथाभिनेता, ३. गायक-वादक-मण्डली के दो दल। अन्धायुग में इन सब की स्थिति है। प्रस्तावना को '**स्थापना**' के नाम से दिया गया है जहाँ कि नेपथ्य से उद्घोषणा होती है तथा नर्तक के द्वारा उपयुक्त भाव-नाट्य का प्रदर्शन होता है। शंख-ध्वनि के साथ पर्दा खुलता है और मंगलाचरण के साथ-साथ नर्तक नमस्कार-मुद्रा प्रदर्शित करता है। उद्घोषणा के साथ-साथ उसकी मुद्राएँ बदलती जाती हैं। इस प्रस्तावना में '**भावनट**' का प्रयोग हुआ है। कथा तो चलती ही है—कुछ गायन से और कुछ अभिनय से। कथा-गायन से सूक्ष्म कथा का प्रकाशन है; यथा—

> 'टुकड़े टुकड़े हो' बिखर चुकी मर्यादा
> उसको दोनों ही पक्षों ने तोड़ा है
> पाण्डव ने कुछ कम कौरव ने कुछ ज्यादा
> यह रक्तपात अब कब समाप्त होना है
> क्या अजय युद्ध है नहीं किसी की भी जय
> दोनों पक्षों को खोना ही खोना है
> अन्धों से शोभित था युग का सिंहासन
> दोनों ही पक्षों में विवेक ही हारा

दोनों ही पक्षों में जीता अन्धापन;
भय का अधान्पन, ममता का अन्धापन
अधिकारों का अन्धापन जीत गया
जो कुछ सुन्दर था, शुभ था, कोमलतम था
वह हार गया······द्वापर युग बीत गया

(पर्दा उठने लगता है)

यह महायुद्ध के अन्तिम दिन की सन्ध्या
है छाई चारों ओर उदासी गहरी
कौरव के महलों का सूना गलियारा
हैं घूम रहे केवल दो बूढ़े प्रहरी

और इस कथा-गायन के साथ ही प्रहरी, पर्दा उठने पर, स्टेज पर वार्तालाप करते दिखाई देते हैं, इस कथा-गायन में गायक-वादक-मण्डली का प्रयोग हुआ है। ऐसे ही हर अंक के प्रारम्भ में और बीच-बीच में कथा-गायन हुआ है।

संवादाभिनय तो स्पष्ट है। संवादों को अभिनेता बोलते हैं। 'अन्धा युग' के संवादों के विषय में लेखक लिखता है—'संवाद मुक्त छन्दों में हैं और अन्तराल में कितनी प्रकार की ही छन्द योजना से मुक्त वृत्तगन्धी गद्य का भी प्रयोग किया गया है। वृत्तगन्धी गद्य की ऐसी पंक्तियाँ अन्यत्र भी मिल जायेंगी। लम्बे नाटक में छन्द बदलते रहना आवश्यक प्रतीत हुआ, अन्यथा एकरसता आ जाती। कुछ स्थलों को अपवाद-स्वरूप छोड़ दें तो प्रहरियों का सारा वार्तालाप एक निश्चित लय में चलता है, जो नाटक के आरम्भ से अन्त तक लगभग एक सी रहती है। अन्य पात्रों के कथोपकथन में सभी पंक्तियाँ एक ही लय की हों, यह आवश्यक नहीं। जैसे एक बार बोलने के लिए कोई मुँह खोले, किन्तु उसी बात को कहने में, मन में भावनाएँ कई बार करवटें बदल लें, तो उसे सम्प्रेणित करने के लिए लय भी अपने को बदल लेती है।

मुक्त छन्द में कोई लिरिक-प्रवृत्ति की कविता अलग से लिखी जाय तो छन्द की मूल योजना वही बनी रह सकती है, किन्तु नाटकीय कथन में मैं इसे बहुत आवश्यक नहीं मानता। कहीं-कहीं लय का यह परिवर्तन मैंने जल्दी-जल्दी ही किया है—उदाहरण के लिए पृ० ७९-८० पर संजय के समस्त संवाद एक विशिष्ट लय में है, पृ० ८१ पर संजय के संवाद की यह लय अकस्मात् बदल जाती है। (निर्देश) वन्दना में गीतों का प्रयोग न होकर कविता का प्रयोग हुआ है।

इस प्रकार 'अन्धा युग' एक गीति-नाट्य है जो प्राचीन और अर्वाचीन परम्पराओं से अनुमत है और जिसमें प्रभावात्मकता लाने के लिए लेखक ने कुछ नवीनता भी ला दी है।

व्याख्या-भाग

युद्धोपरान्त
यह अन्धा युग अवतरित हुआ
जिसमें स्थितियाँ, मनोवृत्तियाँ, आत्माएँ सब विकृत हैं
है एक बहुत पतली डोरी मर्यादा की
पर वह भी उलझी है दोनों ही पक्षों में
सिर्फ कृष्ण में साहस है सुलझाने का
वह है भविष्य का रक्षक, वह है अनासक्त
पर शेष अधिकतर हैं अन्धे
पथभ्रष्ट, आत्महारा, विगलित
अपने अन्तर की अन्ध गुफ़ाओं के वासी
यह कथा उन्हीं अन्धों की है,
या कथा ज्योति की है अन्धों के माध्यम से। (पृ० १०)

सन्दर्भ—'अन्धा युग' की स्थापना में समागत 'उद्घोषणा' से गृहीत प्रस्तुत पंक्तियों में नेपथ्य से की गयी उद्घोषणा के रूप में 'अन्धे युग' का परिचय दिया गया है।

व्याख्या—'महाभारत के भयंकर युद्ध के अनन्तर धरणी पर अन्धे युग का आगमन हुआ। अन्धे व्यक्ति को वास्तविकता का भान नहीं होता; उसके समक्ष सभी वस्तुएँ विकृत होती हैं। इसी कारण इस अन्धे युग में स्थितियाँ, लोगों की चित्तवृत्तियाँ एवं आत्माएँ विकृत हो चुकी है। लोग निर्मर्याद हो चुके हैं। इसमें मर्यादा का एक बहुत ही भयंकर-सा सूत्र विद्यमान है पर वह भी दो (विरोधी) पक्षों में उलझा हुआ है। दोनों पक्षों (कौरव-पाण्डव) की मर्यादा-समस्या को सुलझाने का साहस केवल कृष्ण में ही है, क्योंकि कृष्ण ही ऐसे

व्यक्ति हैं जो भविष्य की रक्षा करने में सक्षम हैं और आसक्तिरहित हैं। कृष्ण के अतिरिक्त शेष व्यक्ति अधिकांश पथभ्रष्ट, आत्महीन और क्षीण (मनोबल रहित) हैं; ये प्राणी अपने कुण्ठित अन्तर की अन्धी गुफाओं के वासी हैं अर्थात् कुण्ठाग्रस्त हैं—किंकर्त्तव्यविमूढ़ हैं—उनके सामने कोई निश्चित लक्ष्य नहीं है। प्रस्तुत नाटक में इन्हीं अन्धों की कथा निबद्ध है। अथवा इसे यों कहा जा सकता है कि अन्धों के सहारे ज्योति की कथा इस नाटक में निबद्ध है। भाव यह है कि यथार्थ के माध्यम से आदर्श की सूचना दी गयी है।

विशेष—१. यहाँ नाटक के नामकरण की ओर इंगित किया गया है। नाट्यशास्त्र का यह नियम है कि 'पूर्वरंग' के अनन्तर रंगमंच पर 'स्थापक' प्रवेश करके काव्य (नाटक) की स्थापना करता है। इसी समय वह नाटक के नाम एवं कवि आदि का भी यथासम्भव परिचय देता है। जैसाकि कहा गया है—

पूर्वरङ्गं विधायैव सूत्रधारो निवर्तते।
प्रविश्य स्थापकस्तद्व त्काव्यमास्यापयेत्ततः॥
दिव्यमर्त्ये स तद्रूपो मिश्रमन्यतरस्तयोः।
सूचयेद्वस्तु बीजं वा मुखं पात्रमथापि वा॥
रङ्गं प्रसाद्य मधुरैः श्लोकैः काव्यार्थ सूचकैः।
रूपकस्य कवेराख्यां गोत्राद्यपि स कीर्तयेत्॥"

(साहित्यदर्पण, पृष्ठ। २६-२८)

डॉ० भारती के अनुसार '**स्थापना और समापन भी पुरानी परम्परा को नये परिवेश में प्रस्तुत करते हैं।**' यहाँ नवीनता यह है कि उद्घोषणा नेपथ्य से होती है। स्थापक मंच पर आकर नहीं बोलता।

२. 'अन्धा युग' एक प्रतीक भरा नाटक है। महाभारत का युद्ध विश्व-युद्ध का प्रतीक है। उसके बाद का अन्धा युग वर्तमान युग का प्रतीक है। दो पक्ष रूस और अमेरिका के प्रतीक माने जा सकते हैं। कृष्ण भारत जैसे तटस्थ (अनासक्त और भविष्य रक्षक) देश का प्रतीक हो सकता है। इस प्रकार प्राचीन कथा में नये युग का चित्रण है। साथ ही कृष्ण, मानव मूल्य के प्रतीक हैं जो भविष्य के रक्षक हैं।

३. **यह कथा ज्योति की है अन्धों के माध्यम से** :—आशय यह है कि अन्धों के अन्धेपन (अविवेक) का वर्णन करके लेखक उससे पाठक को दूर रहने का सन्देश देना चाहता है। पारिभाषिक शब्दों में 'यथार्थ के माध्यम से आदर्श की स्थापना करना चाहता है। मानव-मूल्य की प्रतिष्ठा करना चाहता है।'

अन्धों से शोभित था युग का सिंहासन
दोनों ही पक्षों में विवेक ही हारा
दोनों ही पक्षों में जीता अन्धापन
भय का अन्धापन, ममता का अन्धापन
अधिकारों का अन्धापन जीत गया
जो कुछ सुन्दर था, शुभ था, कोमलतम था
वह हार गया·····द्वापर युग बीत गया। (पृ० ११)

सन्दर्भ—प्रस्तुत पंक्तियाँ 'अन्धा युग' के प्रथम अंक 'कौरव नगरी' से ली गयी हैं। तीन बार तूर्यनाद के अनन्तर कथा गायन होता है जिसमें सूच्य कथा का वर्णन किया गया है।

व्याख्या—'महाभारत-युद्ध के समय अन्धे धृतराष्ट्र से सिंहासन शोभित था; अतः राजपक्षीय होने के कारण अन्धापन ही सर्वथा विजयी होना था। वही हुआ। दोनों पक्षों (कौरव-पाण्डव पक्ष) में विवेक की पराजय हुई। विवेकी युयुत्सु जब पाण्डवों की ओर से लड़ा तो कौरवों की दृष्टि में भी हीन हुआ और पाण्डवों (भीम) से भी अपमानित हुआ। इसके विपरीत जो विवेक बुद्धि को तिलाञ्जलि दे बैठा वही दोनों पक्षों में जीता। निहत्थे गुरु द्रोणाचार्य का अविवेक सहित धृष्टद्युम्न ने वध किया; पाण्डव जीते। निहत्थे बालक अभिमन्यु का सशस्त्र महारथियों ने मिलकर वध किया; शक्ति उन्हें मिली। जब अश्वत्थामा ने सोते हुए पाण्डवों की निर्मम हत्या (क्रोधान्ध होकर) कर दी तो उसकी विजय हुई। यदि वह मर्यादा का विचार करता रहता तो कुछ भी नहीं कर सकता था। इसी प्रकार भीम दुर्योधन को अधर्मवार से ही जीत पाया।

इस प्रकार भय का अन्धापन, ममत्व का अन्धापन और अधिकारों का अन्धापन दोनों ही पक्षों में विजयी सिद्ध हुआ तथा जो कुछ सुन्दर, शुभ एवं कोमलतम था वह हार गया। और इस प्रकार वह द्वापर युग बीत गया।'

विशेष—१. इन पंक्तियों में लेखक की प्रतीकात्मक शैली और आधुनिकता का प्रकाशन द्रष्टव्य है। आज भी जो निर्मर्याद हैं, विवेक से पराङ्मुख होकर शक्ति प्रदर्शन करते हैं उन्हीं का बोल बाला है। जो विवेकी हैं; जिनके ज्ञान चक्षु बन्द नहीं हैं उन्हें ज्ञानदण्ड भोगना पड़ता है और जीवन-भर मुँहकी खानी पड़ती है भले ही उनके मरणोपरान्त, उन्हें प्रतिष्ठा मिले—**'सततदुर्गतः सज्जनः'**।

२. **अन्धों से शोभित था युग का सिंहासन**—यहाँ 'शोभित' में लक्षण लक्षणा है जिससे इसका अर्थ 'कलंकित' होगा। जब प्रभुसत्ता ही अन्धी होगी तो फिर विवेक की क्या चलेगी? इस 'अन्धेपन' की चर्चा नाटक में बहुधा आई है, यथा—'अन्धे राजा की प्रजा कहाँ तक देखे? (पृ० १५) 'देखेंगे कैसे वे? अन्धे हैं' (पृ०१५) 'पर वह संसार स्वतः मेरे अन्धेपन से उपजा था।' (पृ० १७) आदि।

रक्षणीय कुछ भी नहीं था यहाँ
संस्कृति थी यह एक बूढ़े और अन्धे की
जिसकी सन्तानों ने
महायुद्ध घोषित किए,
जिनके अन्धेपन में मर्यादा
गलित अङ्ग वेश्या सी
प्रजाजनों को भी रोगी बनाती फिरी
उस अन्धी संस्कृति,
उस रोगी मर्यादा की
रक्षा हम करते रहे
सत्रह दिन। (पृ०१३)

सन्दर्भ—महाभारत युद्ध के अन्तिम (अठारहवें) दिन की सन्ध्या के समय कौरव के महलों के सूने गलियारे में घूमते हुए दो बूढ़े प्रहरी परस्पर वार्तालाप

करते हैं । वे कहते हैं कि हम पहरा दे देकर थक चुके हैं; भाले और ढाल के भार को लिए हुए हम निरर्थक पहरा देते थे । हम केवल रक्षक थे किन्तु नाम के रक्षक क्योंकि यहाँ रक्षा करने योग्य कुछ भी नहीं था । प्रस्तुत अंश दूसरे प्रहरी का कथन है ।

व्याख्या—वस्तुतः यहाँ ऐसी कोई भी वस्तु नहीं थी जिसकी रक्षा की जाती । केवल एक वृद्ध और अन्धे (धृतराष्ट्र) की संस्कृति ही थी जिसकी हम रक्षा करते थे । उस अन्धे धृतराष्ट्र की सन्तानों ने महायुद्ध घोषित किये । उसके अन्धेपन में मर्यादा की लकीर पीटी जा रही थी । मर्यादा गले हुए अंगों वाली (क्षीणकाय अथवा गले सड़े अंगों वाली) वेश्या के समान प्रजाजनों को भी रोगी बना रही थी अर्थात् जिस प्रकार कोई गलित यौवना जरती वेश्या अपने सम्पर्क से युवकों को भी रुग्ण बना देती है, स्वयं तो रुग्ण होती ही है उसी प्रकार धृतराष्ट्र के राज्य में मर्यादा स्वस्थरूप में दृष्टिगोचर नहीं हो रही थी केवल नाम की मर्यादा थी जो भीरुता की ही द्योतक थी । हम सत्रह दिन तक केवल अन्धे की तथाकथित उस संस्कृति और रुग्ण मर्यादा की रक्षा करते रहे । भाव यह है कि हम केवल ढोंग के दिखावे मात्र के रक्षक थे इससे हम ऊब चुके हैं ।'

विशेष—१. यहाँ प्रहरियों के माध्यम से कोरे थोथे आदर्शों के प्रति उपेक्षा भाव व्यक्त किया गया है । प्रहरी उस जनता के प्रतीक हैं जो दासवृत्ति से पीड़ित है, अर्थात सामन्तशाही शासन का आतंक जिसके सिर पर चढ़ा हुआ है ।

२. 'गलित अंग वेश्या सी' में उपमा अलंकार द्रष्टव्य है ।

भीष्म ने कहा था,
गुरु द्रोण ने कहा था
इसी अन्तःपुर में
आकर कृष्ण ने कहा था—
'मर्यादा मत तोड़ो
तोड़ी हुई मर्यादा
कुचले हुए अजगर सी

गुंजलिका में कौरव-वंश को लपेट कर
सूखी लकड़ी सा तोड़ डालेगी।' (पहला अंक पृ० १७)

सन्दर्भ—युद्धस्थल से संजय रात्रि प्रारम्भ होने तक कोई समाचार नहीं लाये। चिन्तातुर धृतराष्ट्र से विदुर उनके मौन का कारण पूछते हैं। धृतराष्ट्र कहते हैं कि मुझे जीवन में प्रथम बार आशंका व्यापी है। इस पर विदुर कहते हैं—'आशंका ? आपको जो व्यापी है आज वह वर्षों पहले हिला गयी थी सबको।' धृतराष्ट्र के यह कहने पर कि 'पहले पर कभी भी तुमने यह नहीं कहा' विदुर कारण स्पष्ट करते हैं।

व्याख्या—विदुर कहते हैं—'महाराज' जिस समय द्रौपदी को भरी सभा में नग्न किया गया था उस समय भीष्म पितामह ने इस बात का संकेत दिया था कि मर्यादा का तोड़ना घातक है। गुरु द्रोण ने भी समझाया था। कृष्ण ने यही अन्तःपुर में आकर कहा था कि मर्यादा भंग मत करो। मग्न मर्यादा बड़ी अनिष्टकारिणी होती है। जिस प्रकार कुचला हुआ अजगर क्षुब्ध होकर सूखी लकड़ी को अपनी चपेट में डालकर तोड़ डालता है उसी प्रकार तोड़ी हुई मर्यादा समूचे कौरववंश को तोड़ डालेगी। किंतु दुर्भाग्य ! आप सबके संकेत देने पर भी कुछ नहीं समझ सके।

विशेष—१. विदुर के शब्दों से मर्यादा रक्षा की महत्ता प्रकट होती है। लेखक मर्यादा को तोड़ने के पक्ष में नहीं। मर्यादित आचरणों पर वह बल देता है।

२. उपमा अलंकार (तोड़ी हुई मर्यादा कुचले हुए अजगर-सी गुंजलिका में कौरव-वंश को लपेटकर सूखी लकड़ी-सा तोड़ डालेगी।')

पर वह संसार
स्वतः मेरे अन्धेपन से उपजा था।
मैंने अपने ही वैयक्तिक सम्वेदन से जो जाना था
केवल उतना ही था मेरे लिये वस्तु-जगत,
इन्द्रजाल की माया-सृष्टि के समान
घने गहरे अँधियारे में

एक काले बिन्दु से
मेरे मन ने सारे भाव किये थे विकसित
मेरी सब वृत्तियाँ उसी से परिचालित थीं !
मेरा स्नेह, मेरी घृणा, मेरी नीति, मेरा धर्म
बिलकुल मेरा ही वैयक्तिक था।
उसमें नैतिकता का कोई बाह्य मापदण्ड था ही नहीं।
कौरव जो मेरी माँसलता से उपजे थे
वे ही थे अन्तिम सत्य
मेरी ममता ही वहाँ नीति थी
मर्यादा थी। (प्रथम अंक पृ० १७-१८)

सन्दर्भ—महाभारत युद्ध के अन्तिम दिन रात्रि में धृतराष्ट्र के चिंतित होने पर विदुर उसे बताते हैं कि धृतराष्ट्र के चित्त में जो आशंका आज व्यापी है वह तो वर्षों पूर्व सबको हिला गयी थी। भीष्म, द्रोण और कृष्ण ने पहले ही मर्यादा न तोड़ने के लिये कहा था। इस पर धृतराष्ट्र अपने जन्मान्धत्व को 'बाहरी यथार्थ या सामाजिक मर्यादा' को न देखने का हेतु बताता है। विदुर के यह कहने पर कि 'जैसे संसार को किया था ग्रहण अपने अन्धेपन के बावजूद वैसे ही मर्यादा ग्रहण करनी थी'—धृतराष्ट्र इन शब्दों में अपना पक्ष प्रस्तुत करता है।

व्याख्या—धृतराष्ट्र कहता है—'विदुर ! जिस संसार को मैंने ग्रहण किया था; वह भी मेरे अन्धेपन से उत्पन्न हुआ था। मैं स्वार्थान्ध था। जितना मैंने अपने स्वार्थपरक वैयक्तिक दृष्टिकोण और अनुभूति से जाना था उतना ही मेरे लिए वस्तु जगत् था अर्थात् मेरे लिए मेरे लाभ का ही प्रतिपादन करने वाला संसार था, शेष का मुझसे कोई सम्बन्ध नहीं था। जिस प्रकार बाजीगर रात्रि के अन्धकार में घड़े पर या दीवार पर एक काला बिन्दु बनाकर उसी से समस्त बाजीगरी की माया का विकास करते हैं उसी प्रकार मेरे मन में भी मेरी स्वार्थान्धता के काले बिन्दु से मेरा समस्त जीवन परिचालित था। मैं उन्हीं को स्नेह करता था जो मेरे थे, मैं उन्हीं से घृणा करता जो मेरे नहीं थे; मेरी नीति यही थी कि अपनों को लाभान्वित करूँ और मेरा धर्म भी यही

था कि अपनों का पक्ष लूँ भले ही वह उचित हो अथवा अनुचित ! इस स्वार्थी और व्यक्तिक दृष्टिकोण में नैतिकता कोई बाधा नहीं डाल सकती थी । मेरे लिये सामाजिक मर्यादा का कोई स्थान नहीं था क्योंकि मेरा समाज तो कौरव ही थे; मेरा संसार तो कौरवों तक ही सीमित था । वे कौरव मेरी मांसलता से उत्पन्न थे । क्योंकि मैं विवेक की ओर से आँखें मूँदे हुआ था अतः मुझ अन्धे के लिए कौरव ही अन्तिम सत्य थे और उनके प्रति ममत्व अन्तिम मर्यादा और नीति थी । ऐसे में भले ही मुझे भीष्म, द्रोण या कृष्ण समझाते, मैं कैसे उनकी बात को सुन सकता था !'

विशेष—१. धृतराष्ट्र को लेखक ने आज के उस शासक के प्रतीक के रूप में प्रस्तुत किया है जो भाई भतीजावाद का पोषक है, जिसके आगे अपने गुर्गों की बात मान्य होती है भले ही न्याय का गला घुटता हो । ऐसे शासक को पश्चात्ताप तो होता है—पर होता है तब जब उसका सर्वनाश हो लेता है ।

२. उपमा अलंकार ('वस्तुजगत् इन्द्रजाल की माया-सृष्टि के समान') ।

आज मुझे भान हुआ ।
वैयक्तिक सीमाओं के बाहर भी
सत्य हुआ करता है
आज मुझे भान हुआ ।
सहसा यह उगा कोई बाँध टूट गया है
कोटि कोटि योजन तक दहाड़ता हुआ समुद्र
मेरे वैयक्तिक अनुमानित सीमित जग को
लहरों की विषमय जिह्वाओं से निगलता हुआ
मेरे अन्तर्मन में पैठ गया
सब कुछ बह गया
मेरे अपने वैयक्तिक मूल्य
मेरी निश्चिन्त किन्तु ज्ञानहीन आस्थाएँ ?

(पहला अंक पृ० १६)

सन्दर्भ—धृतराष्ट्र के लिए कौरव ही अन्तिम सत्य थे, ममता ही अन्तिम नीति और मर्यादा थी । किन्तु महाभारत के पहले ही दिन से वह अन्तिम सत्य-

कौरवों का सैनिकबल-झूठा और शक्तिहीन सिद्ध होने लगा था—इस तथ्य का विदुर द्वारा प्रकाशन करने पर धृतराष्ट्र प्रस्तुत पंक्तियों में अपनी वास्तविकता का परिचय देता है।

व्याख्या—धृतराष्ट्र कहता है—"आज महाभारत के अठारहवें दिन मुझे प्रतीत हुआ कि जिसे मैं एकमात्र सत्य समझता था उससे अतिरिक्त भी सत्य है। मैं तो कौरवों को ही अपने वैयक्तिक सम्वेदन से परम सत्य समझता था किन्तु उनकी निरन्तर पराजय ने सिद्ध कर दिया कि उनके अतिरिक्त भी सत्य है। आज सहसा मेरे मन में संकुचित दृष्टिकोण का लोप होने लगा है। जिस प्रकार कोई टूटा बांध अथवा करोड़ों योजन तक गर्जना करता हुआ समुद्र सीमित बस्ती को निगल जाता है बहा ले जाता है उसी प्रकार आज इस सत्य के भान से मेरी निश्चिन्त किन्तु ज्ञानहीन आस्थाएँ बह गयीं, मेरा सीमित अनुमानित जगत् विलुप्त हो गया।"

विशेष १. प्रायः मनुष्य तब तक अपनी मान्यताओं को ही सार्वभौम मानता है जब तक उसको ठोकर न लगे। ठोकर लगने पर वह मानने लगता है कि उसकी मान्यता ही एक मात्र सत्य नहीं थी। प्रस्तुत पंक्तियों में इसी तथ्य की ओर संकेत है।

२. **निश्चिन्त किन्तु ज्ञानहीन आस्थाएँ**—धृतराष्ट्र कौरवों के प्रति निश्चिन्त रूप से पक्षपाती था किन्तु था अविवेक ग्रस्त।

भय है तो,
ज्ञान है अधूरा अभी।
प्रभु ने कहा था यह
'ज्ञान जो समर्पित नहीं है
अधूरा है
मनोबुद्धि तुम अर्पित कर दो
मुझे।
भय से मुक्त होकर
तुम प्राप्त मुझे ही होगे
इसमें संदेह नहीं।' (पहला अंक पृ० २०)

सन्दर्भ—धृतराष्ट्र के मन में यह भान होने पर कि उसकी मान्यताएँ ही एक मात्र सत्य नहीं थीं—सत्य कुछ और ही था—विदुर उसे समझाते हैं कि यह पीड़ा-पराजय-जन्य ज्ञान दृढ़तादायक है। किन्तु धृतराष्ट्र के मत से यह ज्ञान भय को ही जन्म देता हुआ प्रतीत होता है क्योंकि इस ज्ञान से अपने सर्वनाश की आशंका प्रसूत हो गयी है। इस पर विदुर उनके इस ज्ञान की अपूर्णता प्रतिपादित करते हैं ?

व्याख्या—विदुर 'महाराज ! यदि आपके चित्त में भय का अंश विद्यमान है तो ज्ञान अधूरा है—क्योंकि ज्ञानी व्यक्ति को भय नहीं व्यापता। प्रभु (कृष्ण) ने (गीतोपदेश के समय) यह कहा था कि जो ज्ञान पूर्णतया समर्पित नहीं है वह अपूर्ण है, अतः मुझ मन और बुद्धि अर्पित कर दो, निर्भय होकर तुम मुझे ही प्राप्त होगे।'

विशेष १. यहां गीता की इस उक्ति की ओर संकेत है :—

"मय्येव मन आधत्स्व मपि बुद्धि निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत अर्ध्व न संशयः॥"

(गीता १२-८)

"मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः।"

(गीता पृ० १२-१४)

लेकिन अन्धी नहीं थी मैं।
मैंने यह बाहर का वस्तु-जगत अच्छी तरह जाना था
धर्म, नीति, मर्यादा, यह सब है केवल आडम्बर मात्र,
मैंने यह बार बार देखा था।
निर्णय के क्षण में विवेक और मर्यादा
व्यर्थ सिद्ध होते आये हैं सदा
हम सब के मन में कहीं एक अन्ध गह्वर है।
बर्बर पशु, अन्धा पशु वास वहीं करता है,
स्वामी जो हमारे विवेक का,
नैतिकता, मर्यादा, अनासक्ति, कृष्णार्पण

यह सब हैं अन्धी प्रवृत्तियों की पोशाकें
जिनमें कटे कपड़ों की आँखें मिली रहती हैं
मुझको इस झूठे आडम्बर से नफरत थी
इसलिए स्वेच्छा से मैंने इन आँखों पर पट्टी चढ़ा रखी थी

(पहला अंक पृ० २१)

सन्दर्भ—प्रस्तुत पंक्तियों में गान्धारी उस कटु और घोर यथार्थ का चित्र प्रस्तुत करती है जिसका दर्शन उसने अपने जीवन में किया था।

व्याख्या—गान्धारी कहती हैं—"भले ही मेरे पति यह स्वीकार करें कि वे अंधे थे अतः वे ही दोषी थे किन्तु मैं यह नहीं मानती। मैं अन्धी नहीं थी, मैं सब कुछ समझती थी। मैंने बाहरी संसार को अपने चर्म चक्षुओं के द्वारा और अपने अनुभव से भली प्रकार जान रखा था। मैंने दुनिया देखी थी। मुझे यह ज्ञात था कि धर्म, नीति और मर्यादा केवल दिखावे के लिए है, केवल ढोंग है। जिस समय दो पक्षों की उच्चावचता का निर्णय किया जाता है, निर्णय और विवेक धरे रह जाते हैं, निर्णायक पक्षपाती बन जाता है अपनों के लिए। यह एक मानव-सत्य है। किसी के अंधे होने से कुछ नहीं बनता-बिगड़ता। मनुष्य स्वभाव से ही स्वार्थी है उसके मन में कहीं न कहीं एक अन्धा गड्ढा है जहाँ बर्बर और अन्धा पशु वास करता है। अर्थात् सबके मन में कमजोरी अथवा मूढग्राह है। इसी के कारण मनुष्य बर्बरता करने में और पक्षपात करने में नहीं चूकता। यही यथार्थ है कि हमारा विवेक स्वार्थ और बर्बरता से अधिशासित है। रही बात नैतिकता, मर्यादा, अनासक्ति और कृष्णार्पण की, ये सब तो अन्धी प्रवृत्तियों की पोशाके हैं अर्थात् जिस प्रकार बुर्के में कपड़ा काटकर आँखें बनाई जाती हैं, और उसके अन्दर रहने वाला प्राणी उन आँखों से झाँकता रहता है इसी प्रकार मर्यादा आदि तो नाम के लिए ऊपर ओढ़ी जाती हैं, उनके अन्दर से झाँकता तो स्वार्थ और बर्बरता ही है। जो लोग यह कहते हैं कि वे नैतिकता के पवित्र पथ के अनुयायी हैं, मर्यादा के परम रक्षक और अनुसर्त्ता हैं, आसक्ति से पराङ्मुख है एवं सर्वारम्भपरित्यागी होकर निष्काम कर्म करते हैं" वे ढोंगी हैं, भीतर से कपटभरे स्वार्थी हैं। मैं इस मिथ्या आडम्बर से घृणा

करती थी। वस्तु-जगत के इस सदातन कपटी व्यवहार को मैं अपनी आँखों से न देखूँ—इसलिए मैंने अपनी इच्छा से आँखों पर पट्टी चढ़ा रखी थी। मैं अन्धी नहीं थी। इस लिए धृतराष्ट्र का यह कहना कि मैं ही अन्धा था—अतः किसी का दोष नहीं'—व्यर्थ है। दोष था—कृष्ण का और नैतिकता का दम भरने वालों का।'

विशेष—१. गान्धारी को आज के घोर यथार्थवादी दृष्किोण के प्रतीक के रूप में प्रस्तुत किया गया है जिसके आगे कोरी मर्यादा कुछ अर्थ नहीं रखती।

२. **अनासक्ति, कृष्णार्पण**——गीता के अनासक्तियाग और सब कुछ भगवान् को अर्पण करने वाली प्रवृत्ति पर आक्षेप है। गीता में कहा है—

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पुरुषः॥" (३-३६)
"यत्करोसि यदश्नासि यज्जुहोसि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय ! तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥"
"मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्तवैवमात्यानं मत्परायणः॥"

पता नहीं
प्रभु हैं या नहीं
किन्तु, उस दिन यह सिद्ध हुआ
जब कोई भी मनुष्य
अनासक्त होकर चुनौती देता है इतिहास को,
उस दिन नक्षत्रों की दिशा बदल जाती है।
नियति नहीं है पूर्व-निर्धारित—
उसको हर क्षण मानव-निर्णय बनाता मिटाता है।

(पहला अंक पृ० २४)

संदर्भ—बूढ़ा याचक (भविष्य) महाभारत के अन्तिम दिन की रात्रि में धृतराष्ट्र से कहता है कि मैं झूठा सिद्ध हुआ। मैंने यह कहा था कि युद्ध में कौरवों की विजय होगी। किन्तु युद्धस्थल में एक व्यक्ति के आगमन से पासा

ही पलट गया, कौरव परास्त हुए ; मेरा समस्त विज्ञान मिथ्या सिद्ध हुआ। उस व्यक्ति (कृष्ण) को विदुर 'प्रभु' बताते है किन्तु गान्धारी उन्हें प्रभु रूप में स्वीकार नहीं करती। इस पर बूढ़ा याचक (भविष्य) कृष्ण की महत्ता का स्पष्टीकरण देता है।

व्याख्या— वृद्ध याचक कहता है—पता नहीं, कृष्ण प्रभु हैं या नहीं। किंतु महाभारत के युद्ध में उनके आगमन से यह सिद्ध हो गया कि जब कोई भी व्यक्ति निष्कामभाव से इतिहास को चुनौती देता है तो उस दिन नक्षत्र भी अपना मार्ग बदल लेते हैं अर्थात् कर्मठ व्यक्ति के प्रयत्नों से भाग्य भी बदल जाता है। भाग्य (नियति) पहले से निर्धारित कोई वस्तु नहीं है; उसे प्रतिक्षण मनुष्य का निर्णय बनाता और मिटाता रहता है। मेरी यह भूल थी जो कौरवों की विजय की भविष्यवाणी कर दी ; उस समय नक्षत्र यही कह रहे थे किन्तु अनासक्त होकर चुनौती देने वाले कृष्ण ने नक्षत्रों की गति ही बदल दी और कौरवों का भाग्य ही पलट गया।"

विशेष १. लेखक ने यह व्यञ्जना की है कि केवल भाग्य पर भरोसा करना ठीक नहीं है मनुष्य के कर्म भाग्य के विधाता हैं ; कोरी भाग्यवादिता मान्य नहीं। जैसा कि कहा है :—

'उद्योगिनं पुरुष सिंह मुपैति लक्ष्मीः
दैवेन देयमिति का पुरुषा वदन्ति।
दैवं निहत्य कुरु पौरुषमात्मशक्त्या
यत्ने कृते यदि न सिद्धयति कोऽत्र दोषः ?"

२. इन पंक्तियों का सन्देश यह है कि यदि नेता स्वार्थमुक्त होकर राष्ट्र की सेवा करे तो वह पर्याप्त उन्नति करा सकता है। यदि अपनी लालसाओं की पूर्ति में आसक्त व्यक्ति राष्ट्र का नेता होगा तो वह नाश का कारण होगा। कर्मठ अनासक्त नेता इतिहास को बदल देता है। 'मर्द वो हैं जो जमाने को बदल देते हैं।'

कैसा यह शाप मुझे व्यास ने दिया
अनजाने में

हर संकट, युद्ध, महानाश, प्रलय, विप्लव के बावजूद
शेष बचोगे तुम संजय
सत्य कहने को (दूसरा अंक, पृ०३१)

संदर्भ—वनपथ में सञ्जय भटक गया है। कृतवर्मा उसे जीवित मिल जाता है। कृतवर्मा उससे यह पूछता है कि पाण्डवों ने उसे जीवित कैसे छोड़ दिया? इस पर संजय व्यास के शाप के कारण अपनी अमरता की सूचना देता है :—

व्याख्या—संजय कहता है—"मैं जीवित हूँ। उस भीषण संग्राम में नहीं मरा। यदि मर जाता तो अच्छा था, कम से कम यह कष्ट भरा संवाद अन्धों को तो न सुनाना पड़ता। व्यास ने यह कह दिया कि 'संजय अवध्य है, अतः यह नहीं मरेगा।' यद्यपि व्यास ने तो मुझ पर दया ही दिखलायी किन्तु मेरे मत से तो यह मेरे लिए एक कष्टकर शाप है। इस शाप को व्यास ने मुझे अनजाने में ही दे दिया। व्यास के कथानानुसार मुझे प्रत्येक संकट, युद्ध, महानाश, प्रलय और विप्लव के होने पर भी सत्य कहने के लिए शेष बचा रहना होगा। यह मेरे लिए कैसी विडम्बना है!"

विशेष १. संजय तटस्थद्रष्टा का प्रतीक है। हर युद्ध, संकट, विप्लव आदि के बाद तटस्थ व्यक्ति ही सत्य का प्रकाशन कर सकते हैं। मूढ़ग्राह वाले पक्ष-पाती तो युद्ध में मर ही जाते हैं। तटस्थ व्यक्ति युद्ध के अनन्तर सच्ची घटना का व्याख्यान करते हैं, झगड़े के कारणादि का नीरक्षीर विवेक करते हैं। किन्तु यह सत्य-कथन करना है बड़ा उत्तरदायित्व पूर्ण कार्य, इसीलिए यह कष्टप्रद है। यही कारण है कि संजय अपने तटस्थ जीवन को भी शाप की संज्ञा दे रहा है। संजय की तटस्थता का उल्लेख द्वितीय अंक के आरंभ में कथागायन में भी किया गया है—

'संजय तटस्थ द्रष्टा शब्दों का शिल्पी है
पर वह भी भटक गया असमन्जस के वन में
दायित्व गहन, भाषा अपूर्ण, श्रोता अन्धे
पर सत्य वही देगा उनको संकट क्षण में
वह संजय भी

इस मोह निशा से फिर कर
है भटक रहा
जाते किस कंटक-पथ पर ।'

यह भी संकेत है कि युद्धोपरान्त तटस्थ इतिहास-लेखक भी एक बार तो असमञ्जस में पड़ जाता है कि वह आने वाली पीढ़ी को सत्य का बोध किस प्रकार कराये ।

२. महाभारत की कथा के अनुसार व्यास ने संजय को अमर बना दिया था यहाँ इसी तथ्य को मूल उत्स के रूप में लिया गया है ।

मैंने मरोड़ दिया
अपने इस धनुष को ।
कुचले हुए साँप सा
भयावह किन्तु
शक्तिहीन मेरा धनुष है यह
जैसा है मेरा मन
किसके बल पर लूँगा
मैं अब
प्रतिशोध
पिता की निर्मम हत्या का । (द्वितीय अंक पृ० ३३-३४)

संदर्भ—महाभारत के अप्रतिम वीर अश्वत्थामा ने कौरवों की पराजय के पश्चात् अपने धनुष को मरोड डाला था । यहाँ वह इसके बाद भी प्रतिहिंसा से ग्रस्त होकर सक्रिय होने की सूचना देता है ।

व्याख्या—अश्वत्थामा कहता है—"आज जब मैंने दुर्योधन को निःशस्त्र और दीन देखा तो मैंने अपना धनुष मरोड़ दिया । अब मेरे धनुष की वह दशा है जो एक कुचले हुए सर्प की होती है । अर्थात् जिस प्रकार कुचला हुआ सांप देखने में तो भयंकर लगता है किन्तु वैसे भीतर से होता है शक्तिहीन उसी प्रकार देखने में तो मेरा धनुष अब भी भयंकर प्रतीत होता है किन्तु मरोड़

दिया जाने के कारण है। यह शक्तिहीन है। ठीक इसी प्रकार मेरे मन की दशा है; एक ओर तो यह पाण्डवों से अपने पिता की हत्या का बदला लेने के लिए भयंकर रूप धारण करता है किन्तु दूसरी ओर सेना आदि के साफ होने से और मन में निर्वेद का सञ्चार होने से मन शिथिल हो चला है। ऐसे में जबकि बाह्य शक्ति का प्रतीक धनुष भी मरोड़ा हुआ है और मन भी टूट चुका है—किसके बल पर अपने पिता की निर्दयतापूर्वक की गयी हत्या का बदला ले सकूँगा ?"

विशेष—(१) अश्वत्थामा की मन:स्थिति की अभिव्यंजना बड़ी समर्थ है। उसके मन का अन्तर्द्वन्द्व यहाँ प्रकट हुआ है। एक ओर उसे अपने पिता की हत्या का प्रतिशोध लेना है और दूसरी ओर दुर्योधन की दीनता से वह निर्विण्ण है।

(२) उपमा अलंकार 'कुचले हुए···मन'।

(३) **निर्मम हत्या**—अश्वत्थामा के पिता द्रोणाचार्य की हत्या बड़ी चालबाजी और निर्दयता के साथ की गई थी। पहले तो युधिष्ठिर ने 'अश्वत्थामा हत:' कहकर द्रोणाचार्य को निहत्था बना दिया, फिर धृष्टद्युम्न ने उन पर वार किया। इस हत्या का बदला लेने की अश्वत्थामा ने प्रतिज्ञा की थी। 'वेणी संहार नाटक में इस प्रतिज्ञा का यह स्वरूप है :—

'यो यः शस्त्रं बिभर्ति स्वभुजगुरुमदः पाण्डवीनां चमूनां
यो यः पाञ्चालगोत्रे शिशुरधिकवया गर्भशय्यां गतवा।
यो यस्तत्कर्मसाक्षी चरति मयि रणे यश्च यश्च प्रतीपः।
क्रोधान्ध स्तस्य तस्य स्वयमपि जगतायन्तक स्यान्तकोहऽम्।
किन्तु नहीं।
जीवित रहूँगा मैं
अन्धे बर्बर पशु सा
वाणी हो सत्य धर्मराज की।
मेरी इस पसली के नीचे
दो पंजे उग आयें
मेरी ये पुतलियाँ
बिन दातों के चीथ खायें
पायें जिसे (दूसरा अंक पृ० ३६)

संदर्भ—अश्वत्थामा कहता है कि युधिष्टिर ने 'नरो वा कुञ्जरो वा' कहकर अपने अर्ध सत्य द्वारा मुझे पशु में परिणत कर दिया था। क्योंकि मैं आज उनके इस अर्द्ध सत्य को पूर्ण सत्य बना दूँ। इन पंक्तियों में इसी भाव की अभिव्यक्ति हुई है।

व्याख्या—अश्वत्थामा कहता है—"नहीं मैं आत्मघात नहीं करूँगा; मैं अवश्य जीवित रहूँगा पशु बनकर, वह पशु जो नितान्त बर्बर होता है। धर्मराज युधिष्ठिर की वाणी सत्य हो। भाव यह है कि युधिष्ठिर ने 'अश्वत्थामा हतो नरो वा कुञ्जरो वा' कहकर मेरे मानव और पशु को एक उद्घोषित कर दिया। जब मैं बदनाम हो ही गया तो फिर मैं पशु बनकर ही दिखा दूँगा। पशु जैसी बर्बरता धारण करके मैं वध में प्रवृत्त हूँगा। अब तो मेरी इच्छा है कि हिंसक पशु के समान मेरी पसलियों के नीचे दो खूँखार पञ्जे निकल आयें और मेरी पुतलियाँ ऐसी भयङ्कर हो जाएँ जिनसे प्राणी डरने लगे; बिना दाँतों के ही वे उसे चबा जाय। मेरे लिए केवल वध ही वध अन्तिम लक्ष्य हो।"

विशेष—'धर्मराज' में साभिप्राय विशेष होने से परिकरांकुर अलंकार।

तटस्थ ?
मातुल 'मैं योधा नहीं हूँ
बर्बर पशु हूँ
यह तटस्थ शब्द
है मेरे लिये अर्थहीन।
सुन लो यह घोषणा
इस अन्धे बर्बर पशु की
पक्ष में नहीं है जो मेरे
वह शत्रु है।' (दूसरा अंक पृ० ३७-३८)

संदर्भ—अश्वत्थामा सञ्जय का गला दबोच लेता है। कृतवर्मा और कृपाचार्य तटस्थ अवध्य सञ्जय को बचाते हैं। कृपाचार्य अश्वत्थामा से कहते हैं—'वध—लेकिन शत्रु का—कैसे योद्धा हो अश्वत्थामा ? सञ्जय अवध्य है, तटस्थ है।' इस पर (कृतवर्मा के बन्धन में छटपटाता हुआ) अश्वत्थामा तटस्थ

को भी शत्रु के रूप में ग्रहण करने की अपनी मनोवृत्ति का परिचय देता है।

व्याख्या—"तटस्थ शब्द मेरी दृष्टि में कुछ अर्थ नहीं रखता। मामा! आज मैं योद्धा नहीं हूँ; मैं योद्धा तो युधिष्ठिर के अर्धसत्य से पूर्व था! आज तो मैं पशु मात्र हूँ। मेरे लिए एक ही काम अवशिष्ट है, वह है वध करना। मेरी यह घोषणा ध्यान से सुन लो कि जो मेरे पक्ष में नहीं है वह मेरा शत्रु है। अर्थात् मेरे लिए दो ही कोटियाँ मान्य हैं—शत्रु और मित्र। जो मित्र नहीं है भले ही वह तटस्थ हो; मेरा शत्रु है और शत्रु का वध आवश्यक है। इसको तो तुम भी मानते हो। अतः आज मैं तटस्थ सत्यकथनकर्त्ता सञ्जय को भी नहीं छोड़ूँगा।'

विशेष—अश्वत्थामा आज के उन शक्ति सम्पन्न देशों का प्रतीक है जो किसी-न-किसी बात पर संसार में संहारकारी युद्ध ठानने को तैयार रहते हैं, जिनके लिए तटस्थता और सत्यवादिता कुछ मायने नहीं रखती और जो 'योद्धापन' को त्यागकर वधकर्त्तत्व का ही अधिक आश्रय लेते हैं। पुरानी कथा में आज की व्यञ्जना द्रष्टव्य है।

आज इस पराजय की बेला में
सिद्ध हुआ
झूठी थी सारी अनिवर्यता भविष्य की।
केवल कर्म सत्य है,
मानव जो करता है, इसी समय
उसी में निहित है भविष्य
युग-युग तक का।
इसीलिए उसने कहा
अर्जुन
उठाओ अस्त्र
विगत ज्वर युद्ध करो
निष्क्रियता नहीं
आचरण में ही
मानव अस्तित्व की सार्थकता है। (दूसरा अंक पृ० ४०)

संदर्भ—वृद्ध याचक गान्धारी के पास से चलकर दूर निकल आया है। इन पंक्तियों में वह अपनी भविष्यवाणी के मिथ्यात्व का चिन्तन कर रहा है।

व्याख्या—"यद्यपि मैंने युद्ध से पूर्व भविष्यवाणी की थी कि दुर्योधन की जीत होगी किन्तु आज दुर्योधन की पराजय हो गयी। आज यह सिद्ध हो गया कि भविष्य के विषय में कुछ भी अनिवार्य निर्णय नहीं लिया जा सकता। केवल वर्तमान काल में जो कर्म किये जाते हैं वे ही सत्य हैं और इन्हीं कर्मों के आधार पर युग-युगों का भविष्य छिपा रहता है। भाव यह है कि वर्तमान-कालिक कर्मों से ही भविष्यकालीन दशा का निर्माण होता है। इसलिए भविष्य के विषय में कोरे अनुमान काम के नहीं हैं अपितु कर्म ही उसके निर्माता हैं। यही कारण था कि महाभारत के युद्ध में श्रीकृष्ण ने अर्जुन को निरालस्य एवं निष्प्रमाद होकर शस्त्र उठाकर युद्ध करने के लिए (कर्म करने के लिए) कहा था। कृष्ण ने कहा था कि निष्क्रिय रहने में मनुष्य की सार्थकता नहीं अपितु सक्रिय रहने में ही उसकी सार्थकता है।

विशेष—(१) यहाँ भाग्यवादिता के विरुद्ध कर्मवादिता को प्रधान बताया गया है।

(२) **विगत ज्वर युद्ध करो**—गीता में कहा है।

(३) **निष्क्रियता नहीं आचरण में हो**—गीता में सक्रिय रहने को कहा गया है—

'नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीर या त्रापि च ते न प्रसिद्धये दकर्मणः॥'

(गीता पृ० ३-८)

(४) **मानव जो करता है, इसी समय**—इसी विचार का आगे भी प्रकाशन हुआ है—

'वर्तमान से स्वतन्त्र कोई भविष्य नहीं'

× × ×

हर क्षण इतिहास बदलने का क्षण होता है। (पृ० ४२)

दुपहर होते होते हिल उठा नगर
खण्डित रथ टूटे छकड़ों पर लद कर
थे लौट रहे ब्राह्मण, स्त्रियाँ, चिकित्सक,
विधवाएँ, बौने, बूढ़े, घायल, जर्जर।
जो सेना रंगबिरंगी ध्वजा उड़ाते
रौंदते हुए धरती को, गगन कँपाते
थी गई युद्ध को अट्ठारह दिन पहले
उसका यह रूप हो गया आते आते।'

(तीसरा अंक पृ० ४७-४८)

संदर्भ—तीसरे अंक के प्रारम्भ में कथा-गायन में कहा गया है कि ढलती रात में सञ्जय कौरव नगरी में आया। तभी से उनसे सारी कथा सुनते-सुनते सुबह हो गयी; गान्धारी पाषाण प्रतिमा-सी हो गयी। दोपहर होने तक क्षत-विक्षत सेना के परिचारक लौट आये। प्रस्तुत पंक्तियों में इसी स्थिति का चित्रण है।

व्याख्या—दोपहर होते-होते कौरव नगरी में विचित्र दृश्य उपस्थित हो गया जबकि खण्डित हुए रथों और छकड़ों पर लदकर घायल और जर्जर ब्राह्मण स्त्रियाँ, चिकित्सक, विधवाएँ, बौने एवं वृद्ध कञ्चुकी युद्धस्थल से लौट आये। जिस सेना ने अठारह दिन पूर्व उल्लाससहित शोभाशाली वेशभूषा में युद्ध के लिए प्रयाण किया था आज उसकी लौटते समय यह बुरी गति हो गयी।

विशेष—(१) प्राचीन काल में युद्धयात्रा में स्वस्तिवाचन के लिए और अभिषेक आदि के लिए ब्राह्मण, सैनिकों के विनोद के लिए स्त्रियाँ (वारांगनाएँ) घायलों की चिकित्सा के लिए वैद्य (चिकित्सक), बड़े-बड़े योद्धाओं की पत्नियाँ उन्हें प्रेरणा देने के लिए, अन्तःपुर की रक्षा के निमित्त वामन एवं वृद्ध काचुकी भी जाते थे। लौटते समय पत्नियाँ विधवाएँ हो गयीं और अन्य अनेक व्यक्ति क्षतविक्षत हो गये।

(२) युद्ध की विभीषिका का संकेत है। युद्ध के बाद विकलांगों और विधवाओं की समस्या बड़ा उग्र रूप धारण करके सामने आती है। आधुनिक

युग में भी यह समस्या मुँह बाये खड़ी है। इन पंक्तियों से विनाशकारी युद्ध से बचने का सन्देश मिलता है।

(३) पर्याय अलंकार है।

इस पर विषाद मत करो युयुत्सु
अज्ञानी, भय डूबे, साधारण लोगों से
यह तो मिलता ही है सदा उन्हें
जो कि एक निश्चित परिपाटी
से होकर पृथक्
अपना पथ अपने आप
निर्धारित करते हैं। (तीसरा अंक, पृ० ५४)

संदर्भ—घायलों के साथ धृतराष्ट्र का पुत्र युयुत्सु भी, जो पाण्डवों की ओर से लड़ा था, कौरव नगरी में आ जाता है। उसे देखकर लोग त्रस्त हो जाते हैं और उसे नरभक्षी गृद्ध की संज्ञा देते हैं। विदुर उसे देखकर पहचान लेते हैं और गान्धारी के पास चलने को कहते हैं। वे उसे ही कौरवों में एकमात्र गर्वोन्नत मस्तक वाला सत्यपथी बताते हैं। इस पर युयुत्सु व्यंग्य से कहता है कि मैं सत्य पर चला तभी तो लोगों ने मुझे दैत्याकार शिशुभक्षी गृद्धवत् बताया। इस पर विदुर उसे निराश न होने के लिए कहते हैं। प्रस्तुत पंक्तियाँ विदुर का ही कथन हैं।

व्याख्या—'युयुत्सु! इसका खेद मत करो कि तुम्हें लोगों ने शिशुभक्षी दैत्याकार बताया है और तुम्हें आता देख लोगों ने किवाड़ बन्द कर लिये। यह तो संसार का नियम है कि जो व्यक्ति लकीर के फकीर न होकर स्वतन्त्र पथ—जो उन्हें अच्छा लगता है और जिसका निर्धारण वे स्वयं करते हैं—पर चलते हैं उन्हें अज्ञानी, भयग्रस्त, रूढ़िवादी साधारण प्राणियों से अवहेलना और अपमान मिलता ही है। तुमने क्योंकि सबकी तरह दुर्योधन का पक्ष न लेकर पाण्डवों का पक्ष लिया; अतः दुर्योधन पक्षीय समस्त व्यक्ति तुम्हारी निन्दा करेंगे ही।

विशेष—(१) यहाँ नवीन विचारों के प्रति पुरातनवादियों की उपेक्षाबुद्धि

की ओर संकेत है। किन्तु यदि बटोही न्याय पथ पर चलने वाला हो तो उसे चिन्ता और विषाद नहीं करने चाहिएँ। उसे चलते ही जाना चाहिए—

'निन्दतु नीतिनिपुण यदि वा स्तुवन्तु
लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेसृम्।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा
न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः॥"

(भर्तहरि)

यह युग एक अन्धा समुद्र है
चारों ओर से पहाड़ों से घिरा हुआ
और दर्रों से
और गुफाओं से
उमड़ते हुए भयानक तूफान चारों ओर से
उसे मथ रहे हैं
और उस बहाव में मन्थन, गति है;
किन्तु नदी की तरह सीधी नहीं
बल्कि नागलोक के किसी गह्वर में
सैंकड़ों, केंचुल चढ़े, अन्धे साँप
एक दूसरे से लिपटे हुए
आगे पीछे
ऊपर नीचे
टेढ़े-मेढ़े
रेंग रहे हों
उसी तरह सैकड़ों धाराएँ, उपधाराएँ
अन्धे साँपों की तरह बिलबिला रहीं हैं।
ऐसा है यह अन्धा समुद्र—
जिसे हम आज का भव प्रवाह कह सकते हैं।

(अन्तराल, पृ० ७२-७३)

संदर्भ—अश्वत्थामा के द्वारा मारा गया वृद्ध याचक प्रेतात्मा के रूप में उपस्थित होता है। यहाँ वह तटस्थ रूप में अपने युग की आलोचना प्रस्तुत कर रहा है।

व्याख्या—यह युग उस समुद्र के समान है जो अन्धकार से आच्छन्न हो और जो चारों ओर से पहाड़ों से घिरा हुआ हो। भाव यह है कि इससे बचकर कहीं नहीं जाया जा सकता; जिधर भी प्राणी जायेगा उधर ही टक्कर खायेगा। इस युग रूपी समुद्र को दर्रों और गुफाओं से उमड़ते हुए तूफान चारों ओर से मथे डाल रहे हैं। भाव यह है कि इस युग में विषमता की विभीषिका व्याप्त है। तूफानों के द्वारा मथित होने पर इस युग-समुद्र में जो बहाव होता है उसमें गति तो है किन्तु वह नदी की तरह सीधी गति नहीं है अपितु नागलोक के सापों की तरह टेढ़ी गति है।

भाव यह है कि आज के युग में गतिशीलता तो है किन्तु संघर्ष पीडन एवं शोषण जन्य गति है। जिस प्रकार कैंचुल चढ़ जाने पर साँप अन्धे हो जाते हैं और वे एक दूसरे से लिपट कर नागलोक में बिलबिलाते हैं उसी प्रकार इस युग में मदांध आडम्बर युक्त घातक प्राणी परस्पर लड़ते झगड़ते अविवेक सहित पड़े हुए हैं। आज का युग ऐसा अन्धा समुद्र है जिसे हम आज का भव प्रवाह कह सकते हैं।

विशेष (१) प्रेतात्मा वृद्ध याचक के कथन से लेखक ने आधुनिक युग की व्यञ्जना की है। आज का युग विषमताओं से ग्रस्त, सौहार्दहीन, दिशाहीन, स्वार्थी एवं संघर्षशील प्राणियों का युग है। प्रतीक-शैली द्रष्टव्य है।

(२) रूपक और उपमा अलंकार हैं।

(३) इन पंक्तियों से 'अन्धा युग' नामकरण की सार्थकता सिद्ध होती है।

मैं दो बड़े पहियों के बीच लगा हुआ
एक छोटा निरर्थक शोभा चक्र हूँ
जो बड़े पहियों के साथ घूमता है
पर रथ को आगे नहीं बढ़ाता
और न ही धरती ही छू पाता है!

और जिसके जीवन का सब से बड़ा दुर्भाग्य यह है
कि वह धुरी से उतर भी नहीं सकता !

(अन्तराल, पृ० ७४)

संदर्भ— इन पंक्तियों में प्रेतात्मा वृद्ध याचक की यन्त्रशक्ति से परिचालित होकर सञ्जय मंच पर आकर अपनी आन्तरिक असंगति का प्रकाशन कर रहा है।

व्याख्या—"मैं सञ्जय हूँ, में कर्मलोक से बहिष्कृत हूँ क्योंकि मैं तटस्थ हूँ। न मैं स्वयं कर्म कर सकता हूँ और न किसी को कर्म में प्रवृत्त करा सकता हूँ और नाही तटस्थ होने के नाते कर्म मार्ग का दर्शन त्याग सकता हूँ। मेरी दशा दो पहियों के बीच लगे उस शोभा-चक्र की सी है जिसका कोई उपयोग नहीं, जिसे दो बड़े पहियों के साथ घूमना होता है किन्तु रथ को बढ़ाने में जो कुछ भी सहायता नहीं करता और नाही पृथ्वी का स्पर्श कर पाता है। खेद तो यह है कि वह धुरी से उतर भी नहीं सकता।"

विशेष (१)—तटस्थ व्यक्ति न तो युद्ध में भाग ले सकता है, न यथार्थ की भूमि का स्पर्श करता है, न ही दोनों पक्षों से अस्पृष्ट रह सकता है। इस प्रकार उसके भीतर असंगति ही असंगति है। यहाँ इसी तथ्य की अभिव्यक्ति की गयी है।

'ज्ञात क्या तुम्हें है परिणाम इस ब्रह्मास्त्र का ?
यदि यह लक्ष्य सिद्ध हुआ ओ नर पशु !
तो आगे आने वाली सदियों तक
पृथ्वी पर रसमय वनस्पति नहीं होगी
शिशु होंगे पैदा विकलाङ्ग और कुष्ठग्रस्त
सारी मनुष्य जाति बौनी होती जायेगी
जो कुछ भी ज्ञान सञ्चित किया है मनुष्य ने
सतयुग में, त्रेता में, द्वापर में
सदा-सदा के लिए होगा विलीन वह
गेहूँ की बालों में सर्प फुफकारेंगे
नदियों में बह बहकर आयेगी पिघली आग।

(चौथा अंक पृ० ६२-६३)

संदर्भ—प्रस्तुत पंक्तियों में अश्वत्थामा के द्वारा अर्जुन पर ब्रह्मास्त्र चला देने पर व्यास उसके भावी कुपरिणामों की सूचना देते हुए अश्वत्थामा को धिक्कारते हैं।

व्याख्या—" अरे नर पशु अश्वत्थामा ! क्या तुझे अपने द्वारा चलाये गये ब्रह्मास्त्र का कुपरिणाम भी ज्ञात है ? यदि इस प्रक्षेपास्त्र का सफल प्रयोग हो गया तो संहार ही संहार हो जाएगा। आगामी अनेक शताब्दियों तक पृथ्वी पर विषभरी वनस्पतियाँ होंगी, उनमें रस का सञ्चार नहीं हो सकता। इसके कुप्रभाव से विकलाँग और कोढ़ी बच्चे उत्पन्न होंगे; सम्पूर्ण मानवजाति की लम्बाई कम हो जायगी, वह बौनी हो जायेगी। सतयुग, त्रेता और द्वापर में जो कुछ ज्ञान मनुष्य ने सञ्चित किया है वह सभी इसके कुप्रभाव से विलुप्त हो जायेगा अर्थात् न तो इसकी आग में जल जाने से आगे ज्ञानभरे ग्रन्थ मिलेंगे और न ही मनुष्य के मस्तिष्क में इतनी सामर्थ्य होगी कि वह ज्ञानार्जन और ज्ञानोपयोग कर सके। गेहूँ की बालों में विष भरा होगा यदि कोई उन्हें खायेगा तो मानों वह सर्पों द्वारा डस लिया जायेगा। नदियों में पिघलती आग बहने लगेगी।

विशेष—इन पंक्तियों में लेखक ने अण्वस्त्रों के प्रयोग के विरुद्ध चेतावनी दी है। नागासाकी और हिरोशिमा पर फेंके गये अणुबम का कुप्रभाव छिपा नहीं है। यदि अणुबम और परमाणुबमों के प्रयोग पर रोक न लगी तो समस्त संसार विपत्ति के सागर में मग्न हो जाएगा। आधुनिक युग की यह एक ज्वलन्त समस्या है।

यह आत्महत्या होगी प्रतिध्वनित
इस पूरी संस्कृति में
दर्शन में, धर्म में, कलाओं में
शासन-व्यवस्था में
आत्मघात होगा बस अन्तिम लक्ष्य मानव का।

(पंचम अंक, पृ० ११०)

संदर्भ—एक गूँगा सैनिक भिखमंगा युयुत्सु पर पत्थर फेंकता है। इस पर कृपाचार्य उस भिखमंगे पर प्रहरी के हाथ से भाला लेकर प्रहार करने को दौड़ते

हैं। गूँगा भागता है। युयुत्सु आगे आकर कृपाचार्य को रोकता है और भाला स्वयं लेकर आत्महत्या कर लेता है। उसकी आत्महत्या पर पीछे अट्टहास होता है। कृपाचार्य प्रस्तुत पंक्तियों में युयुत्सु की आत्महत्या के परिणामों की ओर संकेत कर रहा है।

व्याख्या—'युयुत्सु की आत्महत्या पर भी अज्ञानी, मूढ़ दुर्विनीत और अंहग्रस्त पाण्डव हँसते हैं, उसके जीने पर तो हँसते ही थे। युयुत्सु की आत्महत्या आगे चलकर इस सम्पूर्ण संस्कृति, दर्शन, धर्म, कलाओं और शासन व्यवस्था में प्रतिध्वनित होगी। मनुष्य का अन्तिम उद्देश्य आत्महत्या ही होगा। भाव यह है कि जो भी सत्य के पथ पर चलेगा भले ही वह दार्शनिक हो, धार्मिक उपदेष्टा हो, कलाकार अथवा शासक हो उसे अपने को मारना ही पड़ेगा।"

मुक्ति मिल जाती है सबको कभी न कभी
वह जो बन्धुघाती है
हत्या जो करता है माता की, प्रिय की,
बालक की, स्त्री की,
किन्तु आत्मघाती
भटकता है अँधियारे लोकों में
सदा-सदा के लिए बनकर प्रेत। (पाँचवाँ अंक पृ०, १११)

संदर्भ—प्रस्तुत पंक्तियों में विदुर युयुत्सु की मृत्यु पर कृपाचार्य से आत्म-हत्या के कुपरिणामों का वर्णन कर रहे हैं।

व्याख्या—सरल है।

विशेष (१) विदुर के कथन को प्रेरणा देने वाला यह श्लोक है :—

"असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः।
ताँस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥
तुम हो शब्द ब्रह्म, अर्थों के परम अर्थ
जिसका आश्रय पाकर वाणी होती न व्यर्थ
है तुम्हें नमन, है उन्हें नमन
करते आये जो निर्मल मन
सदियों से लीला का गायन
हरि के रहस्यमय जीवन की;

है जरा अलग यह छोटी सी
मेरी आस्था की पगडंडी
दो मुझे शब्द, दो रसानुभव, दो अलंकरण
मैं चित्रित करूँ तुम्हारा करुण रहस्य-मरण।

(समापन पृ०, ११९)

सन्दर्भ—'अन्धा युग' के समापन में लेखक ने कृष्ण-मरण का चित्रण किया है। लेखक के मन में यद्यपि कृष्ण के प्रति आस्था है तथापि प्राचीन से नया दृष्टिकोण उसने अपनाया है। यहाँ वह कृष्ण की और कृष्णकथाकारों की वन्दना करता है और कृष्ण के मरण-चित्र को प्रस्तुत करने की क्षमता की कामना करता है।

व्याख्या—'जो शब्द-ब्रह्म रूप में अवस्थित हैं और समस्त अर्थों के अन्तिम लक्ष्य हैं ऐसे हरि को नमस्कार है। यदि उनका चित्रण किया जाय तो वह वाणी विफल नहीं होती। साथ ही मैं उन समस्त कवियों को भी नमस्कार करता हूँ जिन्होंने चिरकाल से हरि के रहस्यपूर्ण जीवन की लीला का गायन किया है। मैं भी कृष्ण की लीला का गायन करने को सन्नद्ध हुआ हूँ किन्तु मेरी आस्था कुछ और प्रकार की है। अर्थात् मैंने कृष्ण को आधुनिक युग के दृष्टिकोण से देखा है। जहाँ भी उनकी आलोचना का अवसर आया है, मैंने पात्रों के माध्यम से करायी है; मैं नहीं चूका हूँ। गान्धारी और अश्वत्थामा के माध्यम से मैंने कुछ कटु शब्द भी उनके लिए प्रयुक्त करा दिये हैं। इतने पर भी मैं उनके प्रति अनास्थाशील नहीं हूँ। आस्था का रूप दूसरा है। अब मैं उनके करुणापूर्ण रहस्य-मरण का चित्रण करना चाहता हूँ जिसके लिए मुझे शब्द, रसानुभव और अलंकृत शैली चाहिए। मेरी हरि से प्रार्थना है कि वे मुझे यह सब प्रदान करें।'

विशेष—(१) लेखक का आस्थावादी दृष्टिकोण दर्शनीय है।

(२) लेखक यहाँ रसानुभव और अलंकृत शैली का अभिलाषुक है।

(३) **'रहस्यमय जीवन'** और **'रहस्य-मरण'** शब्दों से लेखक कृष्ण के जीवन और मरण की प्रतीकात्मकता की ओर संकेत करता है। हरि के 'जीवन' और 'मरण' का रहस्य लेखक के दृष्टिकोणों से यह है—

'मरण नहीं है ओ व्याध !
मात्र रूपान्तरण है वह

सबका दायित्व लिया मैंने अपने ऊपर
अपना दायित्व सौंप जाता हूँ मैं सबको
अब तक मानव-भविष्य को मैं जिलाता था
लेकिन इस अन्धे युग में मेरा एक अंश
निष्क्रिय रहेगा, आत्मघाती रहेगा और विगलित रहेगा।
लेकिन शेष मेरा दायित्व लेंगे बाकी सभी···
मेरा दायित्व वह स्थित रहेगा
हर मानव के उस वृत्त में
जिसके सहारे वह
सभी परिस्थियों का अतिक्रमण करते हुए
नूतन निर्माण करेगा पिछले ध्वंसों पर
मर्यादायुक्त आचरण में, नित नूतन सृजन में, निर्भयता के
साहस के, ममता के, रस के क्षण में,
जीवित और सक्रिय हो उठूँगा मैं बार बार।'
बुझ गये सभी नक्षत्र, छा गया तिमिर गहन
वह और भयंकर लगने लगा भयंकर वन
जिस क्षण प्रभु ने प्रस्थान किया
द्वापर युग बीत गया उस क्षण
प्रभुहीन धरा पर आस्था हत
कलियुग ने रक्खा प्रथम चरण
वह और भयंकर लगने लगा भयंकर वन।

(समापन, पृ० १२२)

संदर्भ—व्याध के तीर से कृष्ण की मृत्यु हो जाती है। प्रस्तुत पंक्तियों में कृष्ण की मृत्यु के परिणामों का चित्रण किया गया है।

व्याख्या—जिस समय प्रभु ने इस लोक से परलोक को प्रयाण किया उस समय समस्त ज्योतिपुञ्ज नक्षत्र बुझ गये, घना अन्धकार छा गया, प्रभास-वन और भयंकर लगने लगा। कृष्ण के जाते ही द्वापर-युग व्यतीत हो गया। प्रभु-रहित पृथ्वी पर आस्थारहित कलियुग ने अपना प्रथम चरण रख दिया। कलि-

युग के आगमन से वह वन और भयंकर हो गया।'

विशेष (१) प्रभुहीनधरा—प्रभु मर्यादायुक्त आचरण, नित्य नूतन सर्जन, निर्भयता, साहस, ममत्व और रस के प्रतीक हैं। इन सबके अभाव में कलियुग (कलह का युग) आता ही है। यदि उपर्युक्त चीजें हों तो संसार अच्छा लगता है; यदि उनका अभाव हो जाए तो संसार भयंकर प्रतीत होता है।

(२) युद्ध के उपरान्त यदि कोई अच्छा नेता भी मार दिया जाय तो बड़ा भयंकर समय आ जाता है।

(३) विश्व युद्ध के बाद संसार और भयंकर हो गया है। आधुनिक समस्या का संकेत भी दृष्टव्य है।

'मरण नहीं है ओ व्याध !
मात्र रूपान्तरण है वह
सबका दायित्व लिया मैंने अपने ऊपर
अपना दायित्व सौंप जाता हूँ मैं सबको
अब तक मानव-भविष्य को मैं जिलाता था
लेकिन इस अन्धे युग में मेरा एक अंश
निष्क्रिय रहेगा, आत्मघाती रहेगा
संजय, युयुत्सु, अश्वत्थामा की भाँति
क्योंकि इनका दायित्व लिया है मैंने !'

(समापन, पृ० १२७)

संदर्भ—कृष्ण की मृत्यु पर युयुत्सु के प्रश्न 'मानव-भविष्य कैसे बचेगा ?' का उत्तर देता हुआ वृद्ध व्याध कहता है कि अवसान के क्षणों में जो कुछ कृष्ण ने कहा वह इस प्रश्न का पर्याप्त उत्तर है। वृद्ध बता रहा है कि अंतिम समय कृष्ण ने क्या कहा था।

व्याख्या—कृष्ण ने कहा था "ओ व्याध ! यह मेरा मरण नहीं है यह अपितु एक रूप बदलना मात्र है। मैंने सबका दायित्व लिया था, अब अपना दायित्व सबके लिए छोड़कर जा रहा हूँ। (भाव यह है कि संजय अन्त में कृष्ण के समीप आ जाता है, अश्वत्थामा के द्वारा की गई वृद्ध याचक की हत्या का

दण्ड वे अपने ऊपर ले लेते हैं और युयुत्सु के आत्मघात की जिम्मेदारी भी उन पर ही है क्योंकि वह उनके कहे में ही लड़ा। अब जाते समय कृष्ण ने अपना उत्तरदायित्व और लोगों को सौंप दिया है।) अब तक मानव भविष्य को मैं जिलाता रहा किन्तु अब इस अन्धे युग में मेरा एक अंश (जीव, प्राणीसंघात) क्रियाहीन, आत्मघाती और गला हुआ रहेगा क्योंकि इनका दायित्व मैं लिये जा रहा हूँ।"

विशेष (१) **मात्र रूपान्तरण**—यहाँ गीता की ये पंक्तियाँ उपजीव्य हैं :—

"वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा—
न्यान्यनि संयाति नवानि देही॥"

(२) **मेरा एक अंश**—जीव (प्राणी) से तात्पर्य है। गीता में कहा है—

"ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।"

(३) **निष्क्रिय, आत्मघाती और विगलित**—ये तीनों प्रवृत्तियाँ आधुनिक युग की प्रबल प्रवृत्तियाँ हैं। अन्धे युग से आधुनिक युग का संकेत है। साथ ही पश्चिम के साहित्य की प्रवृत्तियों की ओर भी संकेत है। जिनमें मानवमूल्य की अवहेलना है।

(४) **संजय, युयुत्सु, अश्वत्थामा की भाँति**—संजय निष्क्रिय है जैसा कि उसने कहा है—'मैं संजय हूँ जो कर्मलोक से बहिष्कृत हैं'; युयुत्सु आत्मघात है और अश्वत्थामा का शरीर घावों के कारण विगलित है।

(५) यथासंख्य अलंकार है।

"लेकिन शेष मेरा दायित्व लेंगे
बाकी सभी······
मेरा दायित्व वह स्थित रहेगा
हर मानव-मन के उस वृत्त में
जिसके सहारे वह
सभी परिस्थितियों का अतिक्रमण करते हुए
नूतन निर्माण करेगा पिछले ध्वंसों पर।

मर्यादायुक्त आचरण में
नित नूतन सृजन में
निर्भयता के
साहस के
ममता के
रस के
क्षण में
जीवित और सक्रिय हो उठूँगा मैं बार बार।"
(समापन, पृ० १२७-१२८)

संदर्भ—प्रस्तुत पंक्तियों में व्याध श्रीकृष्ण के अन्तिम शब्दों का परिचय दे रहा है।

व्याख्या—व्याध ने कहा कि श्रीकृष्ण ने मुझे बताया था—"यद्यपि एक अंश मेरा निष्क्रिय, आत्मघाती और विगलित रहेगा तथापि शेष व्यक्ति मेरा दायित्व ग्रहण कर लेंगे और इस प्रकार मानव-भविष्य की रक्षा होती जाएगी। जब मानव अपने मनोबल से समस्त परिस्थितियों का अतिक्रमण करता हुआ पिछले ध्वंसों पर नव निर्माण करेगा तो मेरे दायित्व का वह निर्वाह कर देगा। जब भी संसार में मर्यादायुक्त आचरण होगा, विनाश के अनन्तर नव निर्माण होगा, निर्भयता-साहस-ममत्व-प्रेम फैलेंगे तो मैं बारम्बार जी उठूँगा; सक्रिय हो उठूँगा।"

विशेष—(१) भाव यह है कि ईश्वर या प्रभु कहीं अलग लोक में नहीं है, उसका दर्शन यहीं किया जा सकता है। यदि नित्य नूतन निर्माण होता रहे, मर्यादित आचरण होता रहे, निर्भयता-साहस-ममता-प्रेम फैला रहे तो—यही प्रभु का जीवन है। यदि इन प्रवृत्तियों का लोप है तो उसका मारण। दूसरे शब्दों में—मानवमूल्य की प्रतिष्ठा ही प्रभु का जीवन है।

(२) लेखक का आशावादी सन्देश द्रष्टव्य है।

(३) **पिछले ध्वंसों पर नूतन निर्माण**—लेखक का दृष्टिकोण यह है कि नव निर्माण अपने अतीत के आधार पर ही होना चाहिए। भूतकाल के दोषों का त्याग करते हुए अपनी परम्परा को नये रूप में निर्मित करना चाहिए।' 'मानवमूल्य और साहित्य' में उसने इस नयी मर्यादा का उल्लेख किया है।